माँ बनने का अभिशाप

सचिन कुमार जैन

माँ बनने का अभिशाप

सचिन कुमार जैन

ISBN : 81-89164-36-8

माँ बनने का अभिशाप

प्रथम संस्करण : 2006

प्रकाशक :
बुक्स फॉर चेंज
(एक्शन एड कर्नाटक प्रोजेक्ट)
एन-222, ग्रेटर कैलाश-I, नई दिल्ली-110048
फोन : 41733197, 41733198
ईमेल : bfc_delhi@actionaidindia.org, bfchindi@yahoo.co.in

मूल्य : 45.00 रुपए

मुद्रक : अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, दिल्ली-110032

समर्पण

यह पुस्तक समर्पित है उन कार्यकर्ताओं को जो महिला स्वास्थ्य का हक हासिल करने के लिये संघर्ष कर रहे संगठनों की नींव बने हैं। साथ ही मेरा समर्पण है मेरे पिता स्व. श्री सुरेशचन्द्र जैन के प्रति।

कहाँ क्या है?

पुस्तक के पीछे की कहानी

किसी भी विषय को जानने-पहचानने का सबसे बुनियादी तरीका यह है कि हम इसे अपने निजी जीवन का एक अभिन्न हिस्सा मानें। हम लगातार देखते रहे हैं कि हर दिन, हर सप्ताह, हर माह और आयु के हर स्तर पर औरतों के साथ व्यवहार के अलग-अलग मापदण्ड तय किये गये हैं। कहीं इन्हें नैतिकता का नाम दिया गया है तो कहीं धर्म की रक्षा का। यह व्यवहार इतना आम हो चुका होता है कि यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि किसी हद तक महिलाओं के जीवन और अधिकारों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवस्था बन चुकी है। एक तानाशाही व्यवस्था में जो स्थिति गुलामों की होती है उससे भी बदतर स्थिति आज जनतंत्र में औरतों की है। एक लेखक की हैसियत से इस विषय पर मेरी कोई विशेष पकड़ नहीं है। 1997-98 में महिलाओं के स्वास्थ्य, प्रजनन स्वास्थ्य, बालिका शिक्षा जैसे विषयों पर एक संस्था के लिये मैंने पहली बार वास्तविक कहानियाँ लिखने का दायित्व लिया था। तब सागर जिले के एक गाँव में मैंने अपने सामने एक औरत को प्रसव पीड़ा से तड़पते देखा था। गाँव की दाई अपनी एड़ी से उसके गर्भाशय को धकेलकर भीतर करने की कोशिश कर रही थी और थोड़ी ही देर में उस महिला की मृत्यु हो गई। उस दृश्य ने भी वहाँ मौजूद लोगों को झकझोरा नहीं था क्योंकि ऐसा होना उस इलाके में आम बात है। सम्भवतः इसीलिए कोई विचलित नहीं हुआ। इसके बाद कदम-कदम पर ऐसे सामाजिक व्यवहार देखने को मिले परन्तु पिछले डेढ़-दो सालों से इसके और भी कई पक्ष सामने आने शुरू हुए।

इस पुस्तक के अध्यायों को हम तीन हिस्सों में बाँट सकते हैं। सबसे पहला हिस्सा है–मातृत्व स्वास्थ्य की वास्तविकता का। इस हिस्से में एक सच्ची कहानी है सुमता बाई की मौत की। दूसरे हिस्से में समाज के व्यवहार के विश्लेषण की चर्चा है। ऐसा महसूस होता है कि पुरुष बहुत क्रूर है और सामाजिक प्राणी कहलाने लायक नहीं है। तीसरे हिस्से में राज्य के व्यवहार और उसके नीतिगत कार्यक्रम की औपचारिकता और खोखलेपन की चर्चा है।

इस प्रयास को आप तक पहुँचाने की प्रक्रिया में जमीनी स्तर पर काम करने वाले सामाजिक परिवर्तन के ध्वजवाहकों ने जबरदस्त सहयोग दिया। शायद उन्हें कभी पुरस्कृत नहीं किया गया है। सिवनी में काम कर रहे अविनाश झाड़े, छतरपुर के डॉ. मुन्नालाल कुरैचया, खण्डवा के सीमा और प्रकाश, झाबुआ के निलेश देसाई ने चर्चा में समय दिया। महिला स्वास्थ्य पर लेखन में जुड़ी आरती पाण्डेय, सौमित्र राय, सुनील गुप्ता, अमन नम्र, नीति दीवान, अन्नू आनंद से भी मुझे मदद मिली और सहरियाओं के संदर्भ में नरेन्द्र शर्मा, उमेश वशिष्ठ, डॉ. विजय गुप्ता, संदेश बंसल एवं अनिल भाई ने सामग्री जुटाने में मदद की। गढ़चिरौली में महिला स्वास्थ्य के मुद्दे पर सामुदायिक परिवर्तन की लहर चला रही संस्था *सर्च* की डॉ. रानी बंग और अभय बंग के दस्तावेजों से बहुत सी जानकारियाँ मिलीं। मैं जरूर उल्लेख करूँगा कविता श्रीवास्तव, अनुराधा तलवार, हर्षमंदर, टी ऊषा किरण और बिराज पटनायक का, जो लगातार हर तरह के मुद्दों पर मार्गदर्शन देते रहे हैं। एक्शनएड की मालिनी-श्रीरंग और हंगर प्रोजेक्ट के संदीप भाई ने भी इस प्रयास को एक रूप देने में हमारी मदद की। आखिर में बस इतना ही कि-

यूं ही न चलते रहें जिंदगी के पहिये,
कीजिये कुछ जतन की यह दौर बदले,
रास्ते नहीं होते हैं ऊबड-खाबड़,
ये हम हैं जिन्होंने पहियों के आकार बदले।

●●

माँ बनने का अभिशाप!

पाठादेंवरी गाँव की सुमता बाई का माँ बनने का अहसास सुखद नहीं रहा। वह आदिवासी स्त्री थी। ऐसा माना जाता है कि प्रजनन प्रकृति की सबसे रचनात्मक प्रक्रिया है किन्तु सुमता बाई का अनुभव बताता है कि कभी-कभी प्रजनन अभिशाप बन जाता है। सामान्य तौर पर हमारे राज्य में समाज को आर्थिक रूप से सम्पन्न और विपन्न यानी अमीर-गरीब की श्रेणी में बाँटकर परिभाषित किया जाता है। इसके पीछे मंशा यह है कि जो लोग वंचित और उपेक्षित हैं उन्हें संविधान में दर्ज किये गये जनकल्याणकारी राज्य का संरक्षण मिले। सुमता बाई के परिवार में कुल मिलाकर छह सदस्य हैं। इनका पालन-पोषण एक बीघा की खेती से होता है। स्वाभाविक है कि इतनी खेती का उत्पादन उनकी जरूरत को पूरा नहीं कर पाता है। इस वजह से सुमता बाई और उनके पति मिही लाल इस इलाके में किये जाने वाले तेंदू पत्ते की तुड़ाई का काम करते हैं। सुमता बाई की 13 साल की उम्र में शादी कर दी गई। 14 साल की उम्र में खुद बचपन की उछल-कूद करते हुए वह माँ बन गई। वक्त के गुजरने के साथ-साथ उनका परिवार बढ़ता गया। फिर 28 साल की उम्र में दिसम्बर 2004 में वह चौथी बार गर्भवती हुई। इन दोनों (पति-पत्नी) ने यह कभी नहीं सोचा कि अपने जीवन को कैसा रूप देना है? बस एक मशीन जैसी जिंदगी चल रही थी। कल की जरूरत कैसे पूरी होगी, कल का खाना कैसे बनेगा—इनकी सबसे बड़ी चिंता का विषय यही होता।

चौथी मर्तबा गर्भवती होने पर सुमता बाई का वजन 39 किलो था। खून की कमी उसकी आँखों से झलकती थी। उसका गाँव सबसे करीबी स्वास्थ्य केन्द्र से 23 किलोमीटर दूर था। इस दूरी को मिटाने के लिये वहाँ अब तक सड़क नहीं बन पाई है। गोंड आदिवासी समुदाय की सुमता बाई को अपने समाज के कायदे के मुताबिक ही जीना पड़ा। जिसमें यह माना जाता है कि गर्भवती महिला को जहाँ तक संभव हो सके अपने आपको, देवता को सुपुर्द कर देना चाहिए। क्योंकि देवता ही बच्चे को स्वस्थ बनाता है। अपनी गर्भवती पत्नी को समय-समय पर टीके लगवाना चाहिए;

इसे मिहीलाल जरूरी नहीं समझता था। बिस्तर पर बिल्कुल निढाल गिर जाने के एक दिन पहले तक सुमता बाई मजदूरी के लिए जाती रही।

मिहीलाल को कई बार पता चला कि उसकी पत्नी को कमर और सिर दर्द हो रहा है। योनि द्वार से कत्थई-सा पानी रिस रहा है। उसकी बेचैनी बढ़ रही है। पर समाज की बुजुर्ग महिलाओं का मानना था कि इसके लिए देवता की पूजा की जानी चाहिए। वहीं पास के जंगल से एक जड़ी लाकर उस पर सिंदूर छिड़ककर पूजा की गई। गोबर के कंडे जलाकर सुमता बाई पर छाई 'बुरी छाया' को मिटाने की प्रक्रिया पूरी की गई। अब यह तय हो गया कि सात माह की गर्भवती को एक समय भोजन दिया जायेगा। विडम्बना यह थी कि सुमता अब भी अपने दर्द को कह नहीं पा रही थी क्योंकि उनका समाज महिलाओं को यह अनुमति नहीं देता है कि वह अपने गर्भ और यौन सम्बन्धी अनुभव बयान करें। यह बुजुर्ग महिलायें तय करती हैं कि सुमता की समस्या क्या है? पर अब भी इसे समुदाय का अपराध नहीं माना जा सकता है। यूं तो सरकार ने पाठादेवरी के लिये भी एक नर्स की नियुक्ति की है पर यहाँ नियुक्त नर्स मालती दीक्षित दो-दो महीने तक गाँव में नजर नहीं आती है। हालांकि यह उसका दायित्व है कि वह गाँव में रहकर, लगातार हर परिवार के सम्पर्क में रहकर, उनके स्वास्थ्य सम्बन्धी दिक्कतों को समझे। उस समुदाय को समझे और जरूरत पड़ने पर एक सलाहकार की भूमिका निभाये। पर आठवें माह तक तो मालती दीक्षित को यह पता ही नहीं चला कि सुमता बाई गर्भवती है और न केवल उसका वजन बहुत कम है बल्कि खून की कमी उसे धीरे-धीरे मौत की ओर धकेल रही है।

अब मिहीलाल को लगा कि सुमता संकट में है। वह इस कल्पना से सिहर गया

इंसान को किस आधार पर इंसान कहा जाता है, इस प्रश्न पर विचार होना चाहिए। उसका व्यवहार न तो सजीव औरत के प्रति संवेदनशील है न ही निर्जीव यानी मृत औरत के प्रति। मध्यप्रदेश के एक आदिवासी समुदाय में जब किसी गर्भवती महिला की मृत्यु हो जाती है तो उसका गर्भस्थ शिशु के ही साथ अंतिम संस्कार नहीं किया जाता है। बल्कि उसका पेट काटकर गर्भ से बच्चे को बाहर निकाला जाता है और इसके बाद दोनों को अलग-अलग रखा जाता है। बच्चे, या कहें कि भ्रूण का अलग स्थान पर अंतिम संस्कार किया जाता है। उस समुदाय में यह मान्यता है कि यदि भ्रूण या गर्भस्थ शिशु का माँ के ही साथ अंतिम संस्कार किया जाता है तो फिर उस पुरुष का वंश आगे नहीं बढ़ता है। स्वाभाविक है सत्ता, सम्पत्ति, संतान और पुरुषोचित सुख ही तो इस समाज के आधार हैं।

कि यदि सुमता को कुछ हो गया तो चार बच्चों को कैसे पालेगा? उसका घर तो मिट ही जायेगा। फिर उसने हिम्मत की। यह हिम्मत का ही काम कहा जाना चाहिए क्योंकि अभी तक सुमता बाई को डॉक्टर तक ले जाने की पहल उसने इसलिये नहीं कि क्योंकि उसके पास जमा पूंजी के रूप में कुल 53 रुपये थे। घर में बर्तनों की संख्या ही 13 है और कपड़े तो जैसे रोज धोने–रोज सुखाने के काम आते हैं। वह समाज का दायरा छोड़कर बाहर निकलना चाहता था परन्तु गरीबी की बेड़ी उसके कदमों को रोक रही थी। तब उसने 150 रुपये का कर्ज लिया, नर्स मालती से मिला। नर्स ने उसे सुमता को जिला अस्पताल ले चलने की सलाह दी। सुमता के हाथ-पैर में अब सूजन आ चुकी थी, आँखें भी सफेद हो रही थीं और बेचैनी बहुत बढ़ रही थी। नर्स भी यह जान रही थी कि यदि आदिवासी महिला को कुछ हो गया तो उस पर सवाल खड़े हो जायेंगे। इसलिये उसने मिहीलाल को समझाया कि जिला अस्पताल ही चलो। वहाँ इलाज मुफ्त मिल जायेगा। मिहीलाल तैयार हो गया परन्तु उसे न केवल अपना और सुमता का किराया चुकाना पड़ा बल्कि नर्स ने भी अपना किराया उससे दिलवाया।

मिहीलाल के चारों ओर नाउम्मीदी का अंधेरा छा रहा था। कहीं उसे सरकारी मदद या योजनाओं के दावों की रोशनी नजर नहीं आ रही थी। उसे नहीं पता था कि शहर के अखबारों में यह विज्ञापन सैकड़ों बार छपा है कि जब गाँव में कोई

सन् 1994 में मिस्र के काइरो शहर में जनसंख्या और विकास पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में यह माना गया था कि मातृत्व स्वास्थ्य का तात्पर्य केवल बीमारी या कमजोरी से मुक्ति नहीं है, बल्कि यह प्रजनन प्रणाली और उसके सारे क्रिया-कलापों से जुड़ी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से संपूर्ण कुशलक्षेम की स्थिति है। दूसरे शब्दों में महिलायें संतोषप्रद और सुरक्षित यौन जीवन जी सकें, उनमें प्रजनन क्षमता का पूर्ण विकास हो, उन्हें यह निर्णय लेने की स्वतंत्रता हो कि उन्हें कब, कैसे और कितने अंतराल में गर्भ धारण करना है। मसला केवल गर्भधारण करने तक सीमित नहीं है बल्कि यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि उन्हें सुरक्षित मातृत्व का अधिकार मिले। भारत भी काइरो के उस मंच पर उपस्थित था जहाँ यह स्वीकार किया गया कि महिलाओं को प्रजनन एवं मातृत्व स्वास्थ्य के बारे में पूरी सूचनायें प्राप्त करने और उपयोग करने का अधिकार है। साथ ही वे अपने सवाल, जिज्ञासाएँ और विचार अभिव्यक्त करने के लिए सामाजिक रूप से स्वतंत्र हैं।

महिला गर्भवती होती है तो सुरक्षित प्रसव के लिये सरकार उसके लिये आर्थिक सहायता देती है। यदि उसे अस्पताल ले जाना है तो गाँव के लोग कोई भी वाहन की व्यवस्था करके उसे अस्पताल ले जा सकते हैं। पर मिहीलाल के लिये इन सबका कोई मतलब नहीं था।

यूं भी वह किसी सरकारी योजना का लाभ लेने का पात्र नहीं था क्योंकि उसका नाम गरीबी की रेखा की सूची में दर्ज नहीं था। वह बताता है कि गरीबी-रेखा का सर्वे करने वालों ने फार्म में यह लिखा है कि मेरे पास बीस एकड़ जमीन है। हमारी साथी आरती पाण्डे ने जब इसका विश्लेषण किया तो पता चला कि सुमता बाई का जीवन तो सरकार के कारण ही संकट में है। यह विश्लेषण बताता है कि मिहीलाल के खाते में 20 एकड़ खेती की जमीन दर्शाई गई है जबकि वास्तविकता यह है कि उसके पास एक बीघा जमीन भी नहीं है। ऐसे ही करीब 11 अन्य लोग, जो उसी के रिश्तेदार हैं, ने भी 20 एकड़ जमीन दर्ज कराई है। इस प्रकार उनके खातों में कुल 240 एकड़ जमीन दर्ज है। पर सच यह है कि पूरे गांव में इतनी जमीन ही नहीं है। अब चूंकि इनके पास 20-20 एकड़ जमीन होने की जानकारी सरकारी कागजों में दर्ज है सो वे धनी किसान माने जाते हैं। इस कहानी का दूसरा पहलू यह है कि मिहीलाल के दादा मुन्नूलाल के पास 20 एकड़ जमीन थी। उनके चार बेटे थे, इन चारों बेटों की 19 संतानें हुई, जिनमें से 7 लड़कियां हैं चूंकि मिहीलाल के पिता के भाइयों के अभी तक जमीन के खाते अलग-अलग नहीं हो सके हैं, इसलिये वह अभी साझी खेती ही कर रहे हैं। और सभी बारह संतानें अपनी जमीन का रकबा 20 एकड़ बताती हैं। इसके कारण इनमें से किसी का नाम गरीबी की रेखा की सूची में दर्ज नहीं हो सका।

इस तरह सुमता बाई का नाम गरीबी रेखा के दायरे में नहीं होने के कारण सुरक्षित मातृत्व के अधिकार के लाभ से वंचित रह गई। फिर भी मिहीलाल नाउम्मीदी के अंधेरे में उम्मीद की एक किरण खोजने के लिये नर्स के साथ 25 किलोमीटर दूर सरकारी अस्पताल चल पड़ा। 25 किलोमीटर की इस दूरी को तय करने के लिये उन्हें 11 किलोमीटर पैदल चलना पड़ता है क्योंकि वहाँ कोई कच्ची-पक्की सड़क नहीं है। दर्द से कराहती सुमता को कभी पैदल चल कर तो कभी गोद में उठाकर उन्होंने यह दूरी तय की। अब उसकी स्थिति गंभीर हो रही थी क्योंकि सुमता को रक्त स्राव होने लगा। सरकारी अस्पताल के भीतर प्रवेश करते ही मिहीलाल की तमाम उम्मीदें खत्म हो गई। एक तरह से सुमता को वहाँ लाकर गाँव की नर्स ने भी अपने दायित्व को पूरा मान लिया। पिछले दो दिनों में मालती ने एक बार भी सुमता को दिलासा देकर सहज बनाने की कोशिश नहीं की। दवा-इलाज तो दूर उसे प्यार भरा स्पर्श भी नसीब नहीं हो रहा था।

और सरकारी अस्पताल पहुँचने तक जीवन का अंतिम चरण आ गया था। वहाँ

के स्वास्थ्य कर्मचारियों ने मिहीलाल से तीन सौ रुपये की माँग की और जता दिया कि यह राशि दिये बिना सुमता का इलाज नहीं किया जायेगा। मिहीलाल ने अपनी गरीबी और पत्नी की पीड़ा का हवाला दिया परन्तु उसकी एक न सुनी गई। गाँव से अस्पताल पहुँचने में 27 घंटे गुजर चुके थे परन्तु वहाँ पहुँचने के बाद भी सुमता को इलाज नसीब नहीं हो रहा था। अस्पताल के रिश्वतखोर कर्मचारियों के मन पर मिहीलाल के आँसुओं और सुमता बाई की योनि से बह रहे रक्त का कोई असर नहीं पड़ा। रिश्वत न मिलने पर अस्पताल के कर्मचारियों ने सुमता को उठाकर बाहर रख दिया। मिहीलाल गिड़गिड़ाता रहा। कहाँ उसे अस्पताल के मुफ्त इलाज, दवाओं और खाने का आश्वासन मिला था और कहाँ अब वह यह सोच रहा था कि यदि गाँव में ही रहता तो सुमता का क्रियाकर्म तो अच्छे से हो जाता! ऐसे में वहीं के स्थानीय लोगों ने मदद करके सुमता को एक निजी नर्सिंग होम तक पहुँचाया। वे भी जानते थे कि इस ग्राहक से बहुत फायदे की उम्मीद नहीं है फिर भी उन्होंने प्रसव करवाया। किसी ने आकर कहा—बधाई हो बेटी हुई है, पर मिहीलाल पूछ रहा था और सुमता! प्रसव के चार घंटे बाद ही सुमता बाई को घर ले जाने के लिए कहा गया। हालांकि अभी उसे चिकित्सकीय देखभाल की जरूरत थी परन्तु धन के अभाव के कारण सुमता नर्सिंग होम में नहीं रह सकी। अंततः एक बच्चे को जन्म देते ही सुमता बाई का जीवन समाप्त हो गया। सुमता बाई की यह मौत राज्य, समाज और इंसानियत पर सवाल खड़े कर गई।

अब मिहीलाल दुविधा में था। अंततः उसने लखनादौन के मिशन अस्पताल के प्रबंधन को अपनी नवजात बेटी सौंप दी। वह नहीं चाहता था कि यह नन्हीं जान हर रोज एक नई मौत जिए। बेटी से विदा लेकर अपनी पत्नी का शव लेकर वह गाँव की ओर चल पड़ा। सारे रास्ते विचार करने के बाद उसने तय किया कि वह इस अन्याय के खिलाफ संघर्ष करेगा।

जब गाँव वालों को इस अत्याचार की दास्तान का पता चला तो 13 अगस्त 2005 को पाठादेवरी पंचायत की बैठक हुई। बैठक में यह तय किया गया कि सुमता बाई की मौत के लिये जिम्मेदार सरकारी कर्मचारियों पर कार्रवाई करने के लिये प्रशासन को प्रस्ताव भेजा जाये। मध्यप्रदेश में कानूनन ग्रामसभा और ग्रामपंचायत को अपने हितों से जुड़े निर्णय लेने के अधिकार हैं। पाठादेवरी की पंचायत ने अपने इसी अधिकार का उपयोग किया। परन्तु इस अधिकार की सच्चाई यह है कि प्रशासन और सरकार इन प्रस्तावों को कोई तवज्जो नहीं देती है। आखिर कानून बनाने वालों को कानून की उपेक्षा का भी तो अधिकार होता है। पंचायत के प्रस्ताव के आधार पर एक स्थानीय स्वैच्छिक संस्था *'सोपान'* ने सुरक्षित मातृत्व के अधिकार पर सवाल उठाये तो प्रशासन ने औपचारिक कार्रवाई करने की प्रक्रिया शुरू कर दी। प्रशासन ने जांचा कि न्याय के लिये लड़ने वाले मिहीलाल में आखिर दम कितना है?

यह जानने के बाद प्रशासन ने एक ही रणनीति अपनाई, वह रणनीति थी मिहीलाल को बार-बार विकासखण्ड और जिला कार्यालय बुलवाने की। उसे 7 बार अपना पक्ष रखने के लिये स्वास्थ्य विभाग और प्रशासन के अधिकारियों ने नोटिस भेजे। वह हर बार आया, पर पक्ष नहीं रख पाया। बात इतनी सी नहीं है। प्रशासन के इस रवैये के कारण उसे न केवल 750 रूपये का कर्ज लेना पड़ा बल्कि सात दिन की मजदूरी भी गँवानी पड़ी। सुमताबाई तो चली गई परन्तु उसकी मृत्यु के बाद मिहीलाल की 13 साल की बेटी को स्कूल जाना छोड़ना पड़ा; क्योंकि अब घर चलाने के लिए उसके अलावा कौन था?

प्रशासन मानता है कि इस तरह कितनी प्रसव मौतों के मामले में कर्मचारियों पर कार्रवाई करेंगे। एक विश्लेषण करें तो पता चलता है कि सिवनी जिले में अप्रैल 2005 से नवम्बर 2005 की अवधि में कुल 20,652 प्रसव हुए जिनमें से 189 महिलाओं की मृत्यु प्रसव सम्बन्धी कारणों से हुई परन्तु सरकार ने कुल 40 मौतों को ही दर्ज किया। तय है कि इस तरह की मौतों को पंजीकृत न करके वे किसी भी तरह की जवाबदेही से बचना चाहते हैं। सुमता बाई का मामला भी प्रसव मौतों की सूची में दर्ज नहीं किया गया। सिवनी में संस्थागत प्रसव की स्थिति इतनी खराब है कि उक्त अवधि में हुए 20,652 प्रसवों में से केवल 4,321 महिलाओं को अस्पताल की सेवायें नसीब हो सकीं। 74 प्रतिशत महिलाओं को न तो ताकत की दवायें मिलीं और न ही टिटनेस के टीके लगे।

सरकार आज ऐसे संस्थागत प्रसव की बात कर रही है जहाँ चारों ओर गंदगी बिखरी होती है, खून से सने चादर बिस्तर पर बिछे होते हैं, संक्रमित सिरिंज से टीके लगाये जाते हैं, जहाँ दवाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता है और अस्पताल के कर्मचारी असंवेदनशील-भ्रष्ट व्यवहार करते हैं। सिवनी जिले के जिस लखनादौन के अस्पताल में सुमता बाई भेजी गई थी वहाँ पिछले तीन सालों से एक भी महिला रोग और प्रसूति विशेषज्ञ की नियुक्ति नहीं हुई है। यह 78 प्रतिशत महिलायें गर्भावस्था या प्रसूति के बाद प्रसव से सम्बन्धित समस्याओं का सामना करती हैं पर फिर भी सरकार एक व्यक्ति को स्वास्थ्य का अधिकार देने के लिये हर वर्ष केवल 24 रुपये ही खर्च करती है। आखिर सुमता को सुरक्षित मातृत्व का अधिकार मिले, यह कैसे संभव है? सुमता का समुदाय ही छह दिन तक यह निर्णय नहीं कर पाया कि उसका जीवन संकट में है और उसे अस्पताल ले जाना चाहिए। मिहीलाल भी आर्थिक रूप से कमजोर था। फिर भी जब तैयारी हुई तो 11 किलोमीटर ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर पैदल चलना और तकलीफदेह वाहन से सफर करना। जब अस्पताल पहुँचे तो वहाँ इंसान ही न मिले। ऐसे में शायद सुमता ने जीवन त्याग देना ही बेहतर समझा। कौन है यहाँ जवाबदेह, कौन है यहाँ जिम्मेवार?

••

कहाँ हो सरमायेदार?

यदि आप मानवीय संवेदनशीलता के सबसे चरम स्तर पर पहुँचकर यह महसूस करना चाहते हैं कि समाज के वंचित तबकों को स्वास्थ्य सुविधायें न मिलने का मतलब क्या होता है तो आपको निश्चित रूप से मध्यप्रदेश के बड़वानी जिले के सेंधवा विकासखण्ड के बलवाड़ी स्वास्थ्य केन्द्र का भ्रमण ज़रूर करना चाहिए। इस आदिवासी बहुल विकासखण्ड में बलवाड़ी स्वास्थ्य केन्द्र आसपास बसे 30 गाँवों की 21 हजार की जनसंख्या को स्वास्थ्य सुविधायें उपलब्ध कराने के लिये स्थापित किया गया है। ताकि दूर-दराज के इलाकों में बसे पारम्परिक जीवन पद्धति का पालन कर रहे भील आदिवासियों को आधुनिक स्वास्थ्य सुविधायें इस केन्द्र से मिलें। पर यह उम्मीद पूरी न हो सकी। बलवाड़ी स्वास्थ्य केन्द्र में पिछले चार सालों से किसी चिकित्सक ने आकर पदभार नहीं संभाला और उसका पद खाली पड़ा हुआ है। बहरहाल एक कम्पाउण्डर जरूर इस अस्पताल का ताला खोलने की औपचारिकता समय-समय पर पूरी कर देता है। इस स्वास्थ्य केन्द्र में न तो दवायें हैं, न ही शल्य चिकित्सा की सुविधायें। गाँव के गंभीर रूप से बीमार मरीजों को अस्पताल तक लाने के लिये एम्बुलेस भी यहाँ नहीं है। इन परिस्थितियों में 11 महीने की अवधि में बलवाड़ी स्वास्थ्य केन्द्र के आस-पास 13 बच्चों की कुपोषणजन्य बीमारियों के कारण मृत्यु हो गई।

इतना ही नहीं महिलाओं को प्रसव पूर्व चिकित्सा और सलाह न मिल पाने के कारण भी मौतों की एक श्रृंखला चली और 34 महिलायें सुरक्षित प्रजनन के अधिकार से वंचित रह गई, उनकी मृत्यु हो गई। इस इलाके में मजबूत आदिवासी आंदोलन खड़ा करने वाले 'आदिवासी मुक्ति संगठन' के एक अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ के 16 फीसदी बच्चे कुपोषण की गंभीर स्थिति में प्रवेश कर चुके हैं परन्तु यह संकट जानलेवा न हो पाये इसके लिये कोई स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध नहीं है। यह हाल केवल बलवाड़ी का नहीं है बल्कि मध्यप्रदेश के सभी ग्रामीण और आदिवासी इलाकों का है।

यदि सेंधवा का दृश्य आपको झकझोरता है तो संभवतः कटनी जिले के रीठी

विकासखण्ड का भ्रमण आप नहीं करना चाहेंगे। मध्यप्रदेश में जिस समय मुख्यमंत्री के पद के लिये राजनीति चल रही थी उसी समय यानी अक्टूबर के महीने में रीठी में मानवीय समाज की वीभत्स घटना घट रही थी। इसी माह रीठी के सरकारी अस्पताल में जन्म लेने वाले कुल 32 नवजात शिशुओं में से 20 शिशुओं की अकाल मृत्यु हो गई। रीठी का यह अस्पताल विकासखण्ड की 56 पंचायतों को स्वास्थ्य सुविधायें देता है परन्तु सच यह है कि पिछले चार वर्षों से यहाँ कोई प्रसूति और महिला रोग विशेषज्ञ डॉक्टर की नियुक्ति नहीं हुई है। एक सामान्य महिला चिकित्सक अपनी शारीरिक विकलांगता को चुनौती देते हुए हर महिला को भावनात्मक सहयोग देने की भरसक कोशिश करती है। वह कहती है मैं तो ऑपरेशन कर नहीं सकती हूँ। इस अस्पताल में न तो एम्बुलेंस है न ही दवायें और उपकरण। ऐसा लगता है मानो प्रशासन को यह विश्वास है कि हर गर्भवती महिला को, सुरक्षित मातृत्व का अधिकार वरदान स्वरूप मिल जायेगा। एक महिला अस्पताल से उम्मीद कैसे रखें जबकि एक लाख की जनसंख्या पर एक प्रसूति रोग विशेषज्ञ भी नहीं है।

संविधान क्या कहता है—विडम्बना यह है कि अब भी सुरक्षित मातृत्व का अधिकार जीवन का बुनियादी अधिकार नहीं है। यदि कहीं कुछ खोजना हो तो हमारे संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वों में सुरक्षित मातृत्व का विषय खोजना पड़ेगा। जिसमें राज्य के कार्य निश्चित किये गये हैं। संविधान कहता है कि राज्य लोगों के जीवन स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य सुधार का प्रयत्न करेगा। राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बच्चों की सुकुमार अवस्था का आर्थिक दिक्कत के कारण दोहन न होने देगा। स्वास्थ्य सुविधाओं का अधिकार नीति निर्देशक तत्त्वों में है परन्तु न्याय योग्य नहीं है। यदि किसी मानव अधिकार का उल्लंघन होता है तो उन्हें संविधान के अनुच्छेद 32 में सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों को अधिकार दिये गये हैं कि वे मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिये आवश्यक कार्यवाही करें। परन्तु न्यायालय नीति निर्देशक तत्त्वों में दिये गये अधिकारों पर कार्यवाही नहीं कर सकते हैं। यही कारण है मध्यप्रदेश में स्वास्थ्य सुविधाओं, सलाह सुविधाओं और राज्य की उपेक्षा के कारण हर साल होने वाली 15,000 मातृत्व मौतों को कानून का संरक्षण नहीं मिल पाया है।

भारत की संविधान सभा में एक बहुत अहम् बात बाबा साहेब अम्बेडकर ने कही थी। यह जानते हुए कि नीति निर्देशक तत्त्व न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित नहीं किये जा सकते हैं और यदि सरकार इन उद्देश्यों (जैसे-सभी को स्वास्थ्य की सुविधायें) की पूर्ति नहीं करती है तो कोई न्यायालय उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है। फिर भी यह घोषित किया गया है कि ये तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं। साथ ही कानून बनाने में इन तत्त्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा (अनुच्छेद-37)। तब डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि *"यदि कोई सरकार इनकी अवहेलना करेगी तो*

उसे निर्वाचन (यानी चुनाव) के समय मतदाताओं को उत्तर देना होगा।" वास्तव में यह वक्तव्य लोकतंत्र में जन आंदोलनों के जरिये आम जनता के अधिकारों को सुनिश्चित करने की संभावनायें स्पष्ट करता है। अब यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिये कि लोगों की ताकत से ही महिलाओं के मातृत्व अधिकार सुनिश्चित हो सकते हैं, केवल कानून से नहीं। बहरहाल यह एक सच्चाई है कि आज हमारी विधायिका यानी विधानसभा और संसद में सबसे कम बहस और चर्चा महिलाओं और बच्चों के स्वास्थ्य के मुद्दे पर होती है। ऐसी स्थिति में अब जनप्रतिनिधियों को जवाबदेह बनाया जाए अन्यथा बलवाड़ी और रीठी के उदाहरण हमारे आम जीवन की रोजमर्रा की कहानी का रूप ले लेंगे। अब यह तय कर लेना होगा कि मातृ मृत्यु और शिशु मृत्यु को स्पष्ट रूप से संविधान के मूलभूत अधिकारों में शामिल किया जाये। यह एक असहनीय तथ्य है कि मध्यप्रदेश में हर रोज बच्चों को जन्म देते हुए 50 महिलाओं की मौत होती है। इतना ही नहीं 5 वर्ष से कम उम्र के प्रति हजार 367 बच्चे भी जीवन के मायने समझे बिना मर जाते हैं।

जब भी यह सवाल उठता है तो सरकार का जवाब एक नई योजना के रूप में सामने आता है। यह योजनायें कभी भी सफल होती नहीं देखी गई हैं। इनका अक्सर उपयोग केवल वास्तविक स्थिति की गंभीरता को छिपाने में ही किया जाता है। मध्यप्रदेश में हर वर्ष 3.21 लाख व्यक्तियों की मृत्यु ऐसे कारणों या बीमारियों से होती है जिनकी रोकथाम या बचाव संभव है। परन्तु इनमें से 15,260 महिलाओं की मृत्यु गर्भवती होने के बाद और शिशु के जन्म देने के बाद के 42 दिनों के भीतर होती है। आज की स्थिति में मध्यप्रदेश भारत के उन तीन राज्यों में से एक है जहाँ सबसे ज्यादा मातृत्व मौतें होती हैं।

यूं तो 1998 के राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (दूसरा चरण) के आंकड़ों के आधार पर आज भी यही माना जाता है कि प्रदेश में एक लाख जीवित जन्म पर 498 महिलाओं की प्रसव से जुड़े कारणों से मृत्यु हो जाती है। वर्ष 2003 में

26 दिसम्बर को ग्वालियर संभाग के संभागायुक्त ने दतिया जिले में स्वास्थ्य सुविधाओं की स्थिति की समीक्षा करने के लिये विभाग की बैठक बुलाई। मुद्दा था संस्थागत प्रसव का विकास कैसे हो? विचारों और सुझावों का आदान-प्रदान हो रहा था कि एक स्वास्थ्य अधिकारी ने बताया कि जिला अस्पताल में ही प्रसव व्यवस्था औपचारिक रूप से समाप्त कर दी गई है। यहाँ पर परिवार नियोजन के ऑपरेशन तो होते हैं परन्तु प्रसव की व्यवस्था बंद है। कारण पूछे गये तो पता चला कि - पता नहीं!

मध्यप्रदेश सरकार द्वारा किये गये मध्यप्रदेश परिवार कल्याण कार्यक्रम मूल्यांकन सर्वेक्षण से ग्रामीण क्षेत्रों की आँखों को नम कर देने वाली स्थिति सामने आई। इस सर्वेक्षण में प्रदेश के 25 फीसदी ग्रामीण परिवारों की जानकारी इकट्ठा की गई। जिससे पता चला कि इन इलाकों में प्रति एक लाख जीवित जन्म पर 763 महिलाओं की प्रसव सम्बन्धी कारणों से मृत्यु हो रही है। जबकि इसके पहले 1999 में त्वरित पारिवारिक सर्वेक्षण के नतीजे बताते हैं कि मातृ मृत्यु की यह दर 597 है। हालांकि मातृ मृत्यु दर का विश्लेषण अब भी कई तरह के विवादों से घिरा हुआ है फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि सामाजिक स्तर पर महिलाओं के साथ होने वाली उपेक्षा उनकी मृत्यु का कारण बन जाती है। और राज्य यानी सरकार इस अभिशाप से उन्हें मुक्ति दिलाने के लिए कोई कोशिश नहीं करती है।

उल्लेखनीय है कि गर्भधारण करने वाली हर महिला गर्भावस्था, प्रसव और प्रसव के बाद ऐसी शारीरिक एवं मानसिक समस्याओं का सामना करती है जिससे उसकी किसी भी क्षण मृत्यु की संभावना बन सकती है। मध्यप्रदेश में 76 प्रतिशत महिलायें खून की कमी की शिकार हैं यानी इतनी संख्या में गर्भधारण करने वाली महिलाओं को ज्यादा संरक्षण और स्वास्थ्य सुविधाओं की देखभाल की जरूरत है। परन्तु जमीनी सच्चाई कुछ और ही है। प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में 86 प्रतिशत प्रसव अब भी घरों में ही हो रहे हैं। राजगढ़ जिले के गाँवों में लोगों के घरों के बाहर एक चबूतरा बना होता है। जैसे ही औरत को प्रसव का दर्द शुरू होता है वैसे ही उसे उस चबूतरे पर रख दिया जाता है और वहीं वह खुले आसमान के नीचे देती है एक नया जन्म। शिवपुरी सहरिया आदिवासी बहुल इलाका है। सहरिया आदिवासी आज के दौर में सबसे गरीब और कुपोषित माने जाते हैं। वे आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से बहुत पिछड़े हैं। परन्तु वे अपने अधिकारों के प्रति उतने सजग नहीं हैं जितने इस परम्परा के पालन के लिये कि बच्चे के जन्म के बाद नाल (वह नली जिससे माँ और बच्चे जुड़े होते हैं) काटने का काम दलित बसोड़ समाज की महिला ही करेगी, क्योंकि यह अछूत का काम होता है। वहाँ एक बसोड़ महिला 8 से 10 गाँव में यह काम करती है। ऐसे में कई मर्तबा यह होता है कि बच्चा तीन दिन तक नाल न कटने के कारण माँ से जुड़ा रहता है, तड़पते-तड़पते। यही कारण है कि इस समुदाय में व्यापक स्तर पर प्रसव और नवजात शिशुओं की मौत होती है।

प्रदेश के शहरी इलाकों में संस्थागत प्रसव का प्रतिशत 50 के आसपास है। पर स्थिति तब और गंभीर हो जाती है जब हमें पता चलता है कि गाँवों में होने वाली केवल 21 प्रतिशत जचकी डॉक्टरों या प्रशिक्षित नर्स या दाई द्वारा कराई जाती है। सरकारी व्यवस्था सुरक्षित मातृत्व के मुद्दे पर किस तरह काम कर रही है उसका प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि अभी प्रदेश में हर तरह से मिलाकर कुल 5 हजार डॉक्टर सेवारत हैं।

इनमें से 900 डॉक्टर अपनी पदस्थापना पर सालों से पहुँचे ही नहीं हैं जबकि

शेष में से 84 फीसदी निजी प्रैक्टिस को बहुत तवज्जो देते हैं। इस तरह हर रोज 4,000 डॉक्टरों के तीन घंटे की सेवाओं के हवाले हैं मध्यप्रदेश के 94 हजार गाँव और कस्बे। बहुत ही जोर-शोर से बहुउद्देश्यीय स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की स्थापना की एक योजना शासन ने शुरू की थी। सरकार ने इस योजना के अन्तर्गत 17 हजार बहुउद्देश्यीय स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की। अपेक्षा यह है कि ये कार्यकर्ता अपने कार्यक्षेत्र में बसे हर परिवार के सतत् सम्पर्क में रहेंगे। यह जानकारी रखेंगे कि किस परिवार में कौन बीमार है, क्या समस्या है, बच्चों को पोषण आहार मिला या नहीं, टीकाकरण हुआ या नहीं, गर्भवती महिलाओं की प्रसव जाँच हुई या नहीं, टीकाकरण हुआ या नहीं, आदि। परन्तु सारे सपने तब चकनाचूर हो गये जब पता चला कि हर कार्यकर्ता को लगभग 3500 लोगों का ध्यान रखना होगा। जबकि लगभग 250 की जनसंख्या पर एक कार्यकर्ता नियुक्त होना चाहिये था। इन कार्यकर्ताओं ने तो अपने स्तर पर कार्य करना शुरू किया परन्तु जिला एवं विकासखण्ड स्तर के स्वास्थ्य केन्द्रों ने उनके साथ सम्मानजनक संवाद ही स्थापित नहीं किया। वहीं दूसरी ओर एक सिरे से यह भी मान लिया गया कि परम्परागत रूप से मातृत्व सेवायें उपलब्ध करवाने वाली 75 हजार दाइयाँ अभी निरर्थक है और उन्हें केवल प्रशिक्षण देकर ही सार्थक बनाया जा सकता है। यह सही है कि उन्हें प्रशिक्षण की आवश्यकता है परन्तु सरकारी संरचना, तकनीकी और आर्थिक संसाधनों के सहयोग के बिना वे अपनी अपेक्षित भूमिका नहीं निभा सकती हैं।

पहेला गाँव का जगदीश आदिवासी गरीब है उसकी पत्नी कौशल्या गर्भवती हो गई। जगदीश को नियमित रूप से मजदूरी की तलाश में दूसरे गाँव जाना पड़ता है। ऐसे में ही एक दिन उसकी अनुपस्थिति में कौशल्या को प्रसव पीड़ा होना शुरू हो गई। पति के वहाँ न होने के कारण उसे प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र तक ले जाने का निर्णय नहीं लिया जा सका। अंततः गाँव के लोग विचार करते ही रह गये। हालांकि उनके पास उप-स्वास्थ्य केन्द्र तक जाने का विकल्प था परन्तु सच यह था कि यह केन्द्र तीन माह से खुला ही नहीं था। ऐसी स्थिति में कौशल्या का प्रसव गाँव में ही हो गया। ज्यादा रक्त स्राव हो जाने के कारण एक घंटे बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। जगदीश आदिवासी के परिवार की ही रमकी बाई भी ऐसे ही दौर से गुजर रही थी और उसी दिन रमकी बाई की भी मृत्यु हो गई। दोनों का अंतिम संस्कार एक ही दिन कर दिया गया पर न तो समाज बदला, न ही व्यवस्था।

राज्य के नीतिगत प्रयास

राज्य की स्वास्थ्य नीति और उसमें महिलाओं को खोजने की प्रक्रिया शुरू करने से पहले यह जान लेना बहुत जरूरी है कि प्रदेश की नीति बनाने यानी अपनी क्षमताओं का विश्लेषण कर लक्ष्य तय करने का काम करने की क्षमता भी मध्यप्रदेश शासन में नहीं है। मध्यप्रदेश सरकार की स्वास्थ्य नीति सरकार ने स्वयं नहीं बनाई है बल्कि यह स्वास्थ्य के क्षेत्र में काम करने आई डेनमार्क की संस्था 'डेनिडा' ने बनाई थी। वर्ष 2002 में इसमें कोई फेरबदल किये बिना सरकार ने इसे ज्यों का त्यों अपनी वेबसाईट पर प्रकाशित कर दिया। अभी भी (फरवरी 2006 में) इसे ही राज्य की स्वास्थ्य नीति का प्रारूप (ड्राफ्ट) माना गया है। इस प्रारूप में न तो नया विश्लेषण किया गया न ही चार साल में कोई आंकड़े ही बदले गये।

यह नीति राज्य में खराब स्वास्थ्य की स्थिति के लिये आम लोगों यानी नागरिकों को ही दोषी ठहराती है। सरकार मानती है कि हमने तो अपनी तरफ से सबसे अच्छे प्रयास किये हैं पर लोगों का काम तो असंतुष्ट रहना ही है। नीति में यह कहा गया है कि देश के अन्य राज्यों से हमें अपनी तुलना करनी चाहिये, इससे पता चलता है कि आंकड़ों के मामले में हम बहुत बेहतर हैं। प्रदेश में जहाँ स्वास्थ्य पर 100 रुपये खर्च होते हैं, वहीं यह देखना भी जरूरी है कि इसमें से 75 रुपये निजी स्रोतों से आते हैं। एक दूसरे नजरिये से स्वास्थ्य पर होने वाले पूरे खर्च में से तीन चौथाई व्यय तो निजी स्तर पर ही होता है। राज्य के बजट के स्तर पर देखा जाये तो स्थिति कुछ अलग ही नजर आती है।

मध्यप्रदेश सरकार स्वास्थ्य पर कुल 950 करोड़ रुपये खर्च करती है जबकि प्रदेश की जनसंख्या सवा छह करोड़ है। इसके मायने यह हैं कि सरकार एक व्यक्ति को स्वास्थ्य सुविधायें देने के लिये वर्ष में 150 रूपये व्यय कर रही है। स्वास्थ्य पर हो रहे इस व्यय के दूसरे पक्ष का भी विश्लेषण करना जरूरी है। वह पक्ष महत्वपूर्ण इसलिये है क्योंकि सरकार इस 150 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष के कुल बजट में से 86.7 फीसदी हिस्सा तो केवल वेतन बाँटने और स्वास्थ्य विभाग के वाहनों पर ही खर्च कर देती है और वास्तव में एक व्यक्ति को वर्ष भर में नसीब होते हैं 24 रुपये यानि एक माह में दो रुपये। आखिर किस नजरिये से यह संभव है कि राज्य में वंचित समुदायों और महिलाओं को स्वास्थ्य सुविधाओं का अधिकार मिल पायेगा।

जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है कि सरकार मानती है कि उनके प्रयास तो संतोषजनक रहे हैं पर लोग ही संतुष्ट नहीं होते हैं तो ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण कर दिया जाना चाहिये। इस मान्यता पर बहस होनी चाहिये। क्या स्वास्थ्य क्षेत्र का निजीकरण करने से इसकी गुणवत्ता में वृद्धि होगी? यह कैसे संभव है कि निजी क्षेत्र संविधान में दर्ज जनकल्याणकारी राज्य की अवधारणा को सुदूर बसे गाँवों तक लेकर जायेगा? निजी क्षेत्र यानी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की

स्वाभाविक रुचि फायदे में होती है सेवा में नहीं। यह भी एक गंभीर मसला है कि स्वास्थ्य जैसे बुनियादी अधिकार के दायित्व से राज्य मुँह मोड़ रहा है। बजाय इसके कि स्वास्थ्य संरचना में निगरानी की व्यवस्था की जाये। साथ ही जो इसके लिए जवाबदेह है उसकी भूमिका का मूल्यांकन किया जाये।

एक संस्था द्वारा बनाई गई स्वास्थ्य नीति को जिसे मध्यप्रदेश सरकार ने अपनाया है, उसमें भी न तो कोई दिशा नजर आती है, न ही प्रतिबद्धता। बहरहाल औपचारिक रूप से जो लक्ष्य उसमें तय किये गये हैं उन्हें भी पूरा होते देखना शायद इस पीढ़ी को नसीब न होगा। इन लक्ष्यों पर हम बिन्दुवार नजर डाल सकते हैं :

1. यह सुनिश्चित किया जायेगा कि मध्यप्रदेश की पूरी जनसंख्या तक भौगोलिक और आर्थिक पक्षों को ध्यान में रखते हुए गुणवत्तापूर्ण प्राथमिक एवं द्वितीयक स्वास्थ्य सेवाओं की 5 से 7 वर्ष की अवधि में पहुँच हो। यह पहुँच निम्न आधारों पर होगी :
   - यह सेवायें लैंगिक भेदभाव से मुक्त और संवेदनशील होंगी।
   - स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग स्वास्थ्य के विस्तार, रोकथाम, उपचार और पुनर्वास के लिये होगा।
   - स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार के लिये स्वैच्छिक संगठनों और निजी क्षेत्र का उपयोग किया जायेगा।
   - सार्वजनिक राशि का उपयोग शहरी एवं ग्रामीण गरीबों के लिये होगा।
   - साथ ही सबसे ज्यादा ध्यान क्षय रोगों, प्रजनन स्वास्थ्य, सतत रोगों जैसे हृदय, दिमाग, मधुमेह और हायपरटेंशन के इलाज पर केन्द्रित किया जायेगा।
   - दुर्घटनाओं और अन्य तरह की चोटों के इलाज पर ध्यान दिया जायेगा।

महिलाओं की खाद्य असुरक्षा मानवीय मूल्यों पर सवाल खड़ा करती है। ऐसा नहीं है कि परिवार या सरकार के अनाज भण्डार खाली हैं। अनाज तो है परन्तु उस पर पितृसत्ता का नियंत्रण है। ऐसे में ही सोनीपुरा गाँव की 20 वर्षीय सोमवती ने एक बच्चे को जन्म दिया। तमाम बंधनों के बाद भी माँ और बच्चा जीवित तो रह गये परन्तु सोमवती में खून और लौह तत्त्वों की इतनी कमी थी कि उसके स्तनों में दूध रहा ही नहीं। उसके स्तन भी सिकुड़ गये। सोमवती को अपने घर पर भी गर्भावस्था के दौरान हर रोज खाना नसीब नहीं हुआ। क्योंकि उसका पति उसे छोड़कर जा चुका था। कभी भी उसकी स्वास्थ्य जाँच नहीं हुई, उसे कभी लौह तत्त्वों वाली दवायें भी नहीं मिलीं, कभी भी उसने टीके की चुभन भी महसूस नहीं की।

2. महामारियों की रोकथाम (यथासंभव) और महामारी की स्थिति आने पर उससे निपटने की तैयारी।
3. मातृत्व मृत्यु की दर को 2011 तक 498 से घटाकर 220 तक लाना।
4. शिशु मृत्युदर को 2011 तक 97 से घटाकर 62 तक लाना।
5. बच्चों की जन्म दर 2011 तक 2.1 प्रति परिवार तक लाना।
6. एचआईवी एवं एड्स की नीचे के स्तर पर ही रोकथाम कर उसमें कमी लाना।
7. मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं से निपटना।

ऐसा लगता है कि सरकार को समस्याओं की सूची मिली और उस सूची में सरकार ने यह जोड़ दिया कि हम इन समस्याओं को नियंत्रित करेंगे या खत्म करेंगे। यह लक्ष्य अभी सरकार से बहुत दूर है; शायद इसीलिये स्वास्थ्य नीति को अंतिम रूप नहीं दिया गया है। कहा तो गया है कि हर व्यक्ति तक स्वास्थ्य सेवाओं की पहुँच होगी परन्तु यह भी सच है कि आज गाँवों से स्वास्थ्य केन्द्र की औसतन दूरी 25 किलोमीटर है। जहाँ स्वास्थ्य केन्द्र हैं वहाँ डॉक्टरों की नियुक्ति नहीं हुई है और दवाएँ उन्हें मिलती हैं जो राजनैतिक या सामाजिक रूप से प्रभावशाली हैं। जहाँ तक

मैंने यह कहानी 1998 में लिखी थी। तब शायद मैं मुद्दों को उस गहराई तक नहीं समझता था पर आज यह कहानी सुरक्षित मातृत्व के अधिकार के लिये एक आधार के रूप में सामने आई है। यह कहानी है गाँव की गुणिया यानी गुणवान औरत की। बड़तुमा (नई बस्ती) की त्रिवेणी बाई ने पच्चीस सालों में कितने प्रसव करवाये हैं यह अब उन्हें खुद याद नहीं है। वह एक बात जरूर मानती हैं कि औरत के लिए बदलाव ही जिन्दगी का नाम है। उसे सब कुछ एक साथ नहीं मिलता। पत्नी की भूमिका मिलते ही बेटी की भूमिका छूट जाती है और माँ बनते ही भूमिका फिर बदल जाती है। त्रिवेणी बाई के मुताबिक गर्भवती होना एक औरत के जीवन का सबसे अहम् दौर होता है। उसे बताया जाता है कि वह लजाये, अपने व्यवहार को सीमित रखे और अपने दर्द–या–पीड़ा को सहेजे। यही दौर होता है जब उसे संरक्षण की जरूरत होती है। पहले मैं मानती थी समाज का बनाया हुआ हर तौर तरीका सही है। अस्पताल को मैं अपना प्रतिद्वंद्वी मानती थी। मैंने इंस्टीट्यूट ऑफ रिप्रोडक्टिव एण्ड चाइल्ड हैल्थ में दाई का प्रशिक्षण हासिल किया। इस प्रशिक्षण से हमने तीन सबसे अहम् बातें सीखी हैं – पहली यह कि अस्वच्छता हमेशा मृत्यु का कारण होती है। दूसरी यह कि अब हम गर्भवती महिला की समस्या और पीड़ा को सही ढंग से समझ पाते हैं और तीसरा यह तय कर

महामारियों की रोकथाम का सवाल है यह उल्लेखनीय है कि आज भी बैतूल जिले में हर साल बरसात के मौसम में 600 लोगों की मलेरिया के कारण मौतें होती हैं। वर्ष 2004 में वहाँ साढ़े तीन करोड़ रुपये खर्च किये गये पर नियंत्रक महालेखाकार की रिपोर्ट कहती है कि इससे एक व्यक्ति की भी जान नहीं बचाई जा सकी। मध्यप्रदेश विधानसभा में कभी भी इस मुद्दे पर बहस नहीं हुई कि हर साल 16 हजार महिलाओं की मातृत्व अधिकार न मिलने के कारण मौतें होती हैं, इस पर नीति बनानी चाहिये। इसी राज्य में बच्चों में कुपोषण का स्तर देश में सबसे ज्यादा है। जहाँ 55 फीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार हों वहाँ यदि राज्य सरकार पोषण आहार पर केवल 49 पैसे खर्च करती हो वहाँ किसी दुश्मन या दैवीय आपदा की जरूरत ही नहीं है।

सरकार चाहती है कि मानसिक स्वास्थ्य पर हमें ध्यान देने की जरूरत है परन्तु अब भी मानसिक स्वास्थ्य का मुद्दा स्वास्थ्य विभाग के अन्तर्गत न आकर चिकित्सा शिक्षा विभाग के अन्तर्गत आता है। बजट की बात को भी यहाँ नकारा नहीं जा

पाते हैं कि इस बच्चे के जन्म में समस्या हो सकती है तब उसे अस्पताल भेजने की तैयारी करते हैं। त्रिवेणी बाई बताती हैं कि यहाँ मान्यता है कि खाना खाने से गर्भ में शिशु पर दबाव पड़ता है। इसलिये गर्भवती महिला को कम खाना दिया जाता है। त्रिवेणी बाई ने ग्यारह और बारह साल की लड़कियों के भी प्रसव करवाया है, परंतु इससे उन्हें तकलीफ हुई। अब वे गाँव वालों को बता चुकी हैं कि यदि छोटी बच्ची गर्भवती हुई तो वह प्रसव नहीं करवायेंगी; आखिर बचपन को संकट में डाला क्यों जाता है?

इसी तरह सागर जिले के मुकारम्पुर गाँव की शांतिबाई पन्द्रह साल से दाई का काम कर रही हैं। वह पहले प्रसव के बाद नाल काटने के लिये रसोई में काम आने वाले लोहे के हंसिये या चाकू का उपयोग करती थीं। जब प्रशिक्षण में टिट्नेस और संक्रमण के बारे में पता चला तो उनका शरीर काँप गया। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने दाई किट का उपयोग करना शुरू किया परन्तु वह दुखी हैं क्योंकि पिछले दो सालों से उन्हें यह किट ही नहीं मिली है। वह कहती हैं कि अस्पताल के लोग उनसे दोयम दर्जे का व्यवहार करते हैं। कई बार तो उनसे यही कहा गया कि तुम लोग ही औरत को मौत के मुँह में ले जाते हो फिर हमारे मत्थे मढ़ जाते हो। अब सरकारी संरक्षण के अभाव में गाँव की ये गुणियायें उपेक्षा की शिकार हो रही हैं।

सकता है। यह तय है कि एक महिला पर वर्ष भर में 15 रुपये खर्च करके उसे सुरक्षित मातृत्व का अधिकार नहीं दिया जा सकता है।

मध्यप्रदेश शासन की इसी नीति के मुताबिक यदि जनसंख्या को मापदण्ड बनाया जाये तो 13 हजार की जनसंख्या पर एक डॉक्टर है और प्रदेश के कुल सरकारी डॉक्टरों में से 70 फीसदी यानी 3500 डॉक्टर 94 गाँवों और कस्बों के लोगों के स्वास्थ्य की देखभाल कर रहे हैं। इनमें से 900 डॉक्टरों को पिछले सवा साल में सरकार ने नौकरी से हटाया है क्योंकि वे सालों से अपना दायित्व निभाने गाँव गये ही नहीं। आश्चर्य की यह शृंखला यहीं समाप्त नहीं होती है बल्कि हर आठ में से सात स्वास्थ्य कर्मचारी निजी स्तर पर काम करते हैं।

●●

योजनाओं के हवाले माँ

गाँव के स्तर पर क्या और किस तरह के बदलाव लाये जायेंगे, यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तय होता है। सरकार ने अपने दायित्वों को नई-नई योजनायें बनाने तक सीमित कर लिया है। यह सही है कि योजनाओं पर ही हमेशा सवाल खड़े नहीं किये जाना चाहिये। परन्तु राज्य की मंशा और लापरवाही पर तो सवाल खड़े किये ही जाना चाहिये। इस तर्क का विश्लेषण तीन खास योजनाओं पर नजर डालकर किया जा सकता है।

पिछले साल मध्यप्रदेश सरकार ने समाज के 22.05 लाख अति विपन्न और वंचित वर्गों के लोगों को स्वास्थ्य का अधिकार देने के लिये **दीनदयाल अंत्योदय उपचार योजना** शुरू की। जिसके अन्तर्गत राजनेताओं के चित्र वाला कार्ड भी जारी किया गया। इस योजना में गरीब परिवारों को वर्ष भर में बीस हजार रुपये तक मुफ्त स्वास्थ्य सेवायें दिये जाने का प्रावधान है। जिसके लिए केवल डेढ़ करोड़ रुपये का बजट आवंटित किया गया है। इन्हीं आंकड़ों के संदर्भ में यदि सरकार की उपलब्धियों का विश्लेषण किया जाये तो पता चलता है कि इस बजट में से 1.09 करोड़ रुपये का ही व्यय हो पाया। इस राशि में 14,365 गरीब व्यक्तियों का इलाज हुआ। यानी वे 758 सरकारी रुपयों से स्वस्थ हो गये। यहाँ सवाल यह उठता है कि समाज के वंचित वर्गों को मिलने वाले बुनियादी हकों के संरक्षण के लिए बजट का आवंटन किन मापदण्डों के आधार पर होता है? वास्तव में डेढ़ करोड़ रुपये के बजट का आवंटन करना अपने आप में ऐसे समुदायों का माखौल उड़ाने जैसा है। बहरहाल यह अलग बात है कि सरकारी डॉक्टर बीमार हो चाहे न हो उसे ही वर्ष भर में 14 हजार रुपये स्वास्थ्य-स्वच्छता और बुनियादी सुविधाओं के नाम पर मिलते हैं। इस योजना का लाभ भी राजनैतिक प्रभुत्व की शर्त पर मिलता है। 'सेन्टर फॉर एडवोकेसी' द्वारा कराये गये राज्य स्तरीय अध्ययन से पता चलता है कि 51 फीसदी लोगों ने इस योजना के बारे में सुना तो है परन्तु लाभ केवल 0.2 फीसदी को ही मिला है। सरकारी प्रचार में क्रियान्वयन की सच्चाई का कोई स्थान नहीं होता है। कुल डेढ़ करोड़ रुपये वाली इस योजना का प्रचार-प्रसार ऐसे माध्यमों से हुआ

जिनकी वंचित और आश्रित वर्गों तक पहुँच ही नहीं है। इस तरह के प्रचार पर 80 लाख रुपये खर्च हुए।

सबसे गंभीर मसला महिलाओं के साथ जुड़ा हुआ है। इसी तरह महिलाओं को मातृत्व स्वास्थ्य का हक दिलाने के लिये **प्रसव हेतु परिवहन एवं उपचार योजना** का रंग सरकार ने विज्ञापनों में बिखेर रखा है। इस योजना में 150 रुपये से 300 रुपये तक की राशि गर्भवती महिला को स्वास्थ्य केन्द्र तक ले जाने के लिये दिये जाने का प्रावधान है परन्तु कुल बजट केवल 1.03 करोड़ रूपये का है। जिसमें से मात्र 32.12 लाख रूपये ही मध्यप्रदेश में खर्च हो पाये जबकि मातृ मृत्युदर के मामले में यह सबसे गंभीर मुकाम पर खड़ा हुआ है। इस योजना का अध्ययन बताता है कि 53.7 प्रतिशत वास्तविक हितग्राही इसके बारे में जानते नहीं हैं और जो जानते हैं उनमें से 0.8 फीसदी को ही लाभ मिल पाया। वे मानते हैं कि योजना का फायदा कैसे मिले, इसके बारे में उन्हें कोई प्रक्रियागत मदद ही नहीं कर पाता है। इस योजना की अवधारणा का आधार ही अपने आप में गैर-जिम्मेदार सोच पर टिका हुआ है। सरकार मानती है कि गरीब एवं समाज के कमजोर तबकों में मातृ मृत्युदर अन्य तबकों की अपेक्षा ज्यादा है इसलिये गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाली महिलाओं और दलित-आदिवासी वर्गों की महिलाओं में संस्थागत प्रसव को बढ़ावा देने की जरूरत है। ऐसे प्रसवों में जटिलता की पहचान न कर पाने और सही समय पर अस्पताल नहीं भेजे जाने के कारण गर्भवती महिला की असामयिक मृत्यु हो जाती है। ऐसी मौतों को रोका जा सकता है। उन्हें संस्थागत प्रसव का अधिकार मिले यह सुनिश्चित करने के लिये निःशुल्क **परिवहन व्यवस्था एवं उपचार के लिए योजना** स्वास्थ्य विभाग ने शुरू की। इस योजना में हितग्राही स्वयं वाहन की व्यवस्था करेंगे या स्वास्थ्य प्रशासन निजी वाहन मालिकों से अनुबंध करेंगे। जरूरत पड़ने पर आंगनबाड़ी कार्यकर्ता या एएनएम फोन करके एम्बुलेंस भी बुला सकेंगे। योजना की व्याख्या अच्छी है किन्तु सवाल यह है कि गर्भवती महिलाओं को वहीं ये सुविधायें मिलेगी जहाँ चौबीसों घंटे प्रसव की सुविधायें उपलब्ध हैं। मध्यप्रदेश में खोज का विषय यह है कि ऐसे कितने प्राथमिक या सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र राज्य में हैं जहाँ प्रसव की सुविधायें हैं। दवाओं, प्रसूति रोग विशेषज्ञ और सर्जरी की सुविधा सुनिश्चित किये बिना यह योजना कितनी सार्थक होगी यही विश्लेषण का बिन्दु है।

राष्ट्रीय मातृत्व सहायता योजना अब सरकार की कुदृष्टि के निशाने पर है। इस योजना के अन्तर्गत गर्भवती महिलाओं को प्रसव के 8 से 12 सप्ताह पहले 500 रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इसका लक्ष्य यह है कि कमजोर और वंचित समुदाय की गर्भवती महिलाओं और नवजात शिशु को गंभीर खाद्य असुरक्षा के संकट का सामना न करना पड़े। आमतौर पर व्यवहार में है कि प्रसव का समय आने तक महिलायें भारी श्रम करती रहती हैं। मामला गरीबी का होता है परन्तु

मान्यता यह स्थापित कर दी गई है कि इससे प्रसव आसानी से होता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वैसे ही जरूरत से कई गुना कम खाने वाली गर्भवती महिलाओं को श्रम में भी अपनी ऊर्जा व्यय करनी पड़ती है, जिससे गर्भावस्था और प्रसव के समय जटिलतायें बहुत अधिक बढ़ जाती है। यही तथ्य ध्यान में रखकर राष्ट्रीय मातृत्व सहायता योजना शुरू की गई थी कि महिलाओं को प्रसव के तत्काल बाद ही मजदूरी पर न जाना पड़े। परन्तु इस योजना में पात्रता के कुछ बिन्दु ऐसे हैं जिनसे यह पता चलता है कि सरकार सुरक्षित मातृत्व का अधिकार उपलब्ध कराने के बजाय केवल अपना लक्ष्य पूरा करना चाहती है। इस योजना का लाभ केवल दो जीवित बच्चों के जन्म तक दिया जाता है। जनसंख्या स्थिरीकरण जरूरी है परन्तु यह भूलना महिलाओं के साथ अन्याय है कि बच्चे कितने पैदा होंगे यह पितृसत्तात्मक समाज तय करता है परन्तु मातृत्व मृत्यु की शिकार महिला होती है। कम से कम सरकार को तो इस भेदभाव से बचना ही चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय के आयुक्त एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू की ओर विश्लेषण को ले जाते हैं। इन आयुक्तों की छठवीं रिपोर्ट के अनुसार मध्यप्रदेश सरकार ने राष्ट्रीय मातृत्व सहायता योजना के अन्तर्गत तय किया था कि एक वर्ष में 5 लाख 97 हजार 700 महिलाओं को इस योजना का लाभ दिया जायेगा। परन्तु हकीकत यह है कि कुल जमा 22,346 गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाली महिला हितग्राहियों को ही इस योजना का लाभ दिया गया यानी केवल 3.7 फीसदी को। योजना असफल हो गई इसके लिए कौन जिम्मेवार है तय नहीं हो सका।

आर्थिक पक्ष के साथ ही इस योजना के क्रियान्वयन की सच्चाई भी जान लेना जरूरी है। यूं तो प्रावधान यह है कि प्रसव के 8 से 12 सप्ताह पहले गर्भवती महिला को 500 रुपये की सहायता मिल जानी चाहिये परन्तु सौ फीसदी मामलों में यह राशि महिला तक बच्चे के जन्म के साल भर बाद पहुँचती है। इस तरह योजना के मूल उद्देश्य की हत्या हो जाती है पर नीति निर्माताओं के लिये मसला बहुत संवेदनशील नहीं होता है क्योंकि वे इस सहायता के मायने ही नहीं जानते।

सामाजिक शांति, राजनैतिक स्थिरता और प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण होने के बावजूद अब भी मध्यप्रदेश में मातृमृत्यु दर बहुत ज्यादा है। यहाँ हर एक लाख में से 498 महिलायें बच्चों को जन्म देते हुए मर जाती हैं। मध्यप्रदेश में 63 प्रतिशत प्रसव अस्पतालों के बाहर और 48 प्रतिशत प्रसव अप्रशिक्षित हाथों से होते हैं। इसका परिणाम यह है कि 70.97 प्रतिशत महिलायें खून के बहाव, संक्रमण, असुरक्षा और उच्च रक्तचाप के कारण मरती हैं। इस योजना के बारे में अब भी 35 फीसदी लोग ही जानते हैं और 6 फीसदी को ही इसका लाभ मिला है।

समाज ने पितृसत्ता के हितों को ध्यान में रखते हुए एक दमनकारी व्यवस्था का निर्माण किया है। इस व्यवस्था में लड़की या महिला कभी भी इंसान नहीं होती है।

वह या तो एक जिम्मेदारी होती है, एक दायित्व होती है या फिर एक दासी होती है। जिसे कभी भी अपनी मर्जी से भ्रमण करने, मर्जी का खाना खाने, मर्जी से सोने या सम्पत्ति में हक पाने का नैसर्गिक या सामाजिक अधिकार नहीं है। जैसे-जैसे स्त्री की उम्र बढ़ती जाती है उसकी भूमिकायें बदलती जाती हैं। उसका सार्वजनिक दायरा तो बढ़ता जाता है परन्तु निजी दायरा सीमित होता जाता है। वह फिर केवल एक व्यक्ति नहीं रह जाती है। वह कई रिश्तों के जाल में उलझा दी जाती है। बेटी से लेकर बहन, माँ, भाभी, सास आदि भूमिकायें उसकी स्वतंत्रता को बंधन में बाँधती जाती हैं। शुरूआती दौर में तो वह कर्तव्यों की पालनकर्ता होती है पर फिर वह उन कर्तव्यों की संरक्षक होती जाती है। बहुत ही आश्चर्यजनक लगता है यह जानकर कि एक लड़की अपनी कम उम्र में जब लगातार अपनी माँ को ऐसी सामाजिक-पारिवारिक भूमिकायें निभाते हुए देखती है तो वह मन-मस्तिष्क में एक निष्कर्ष पर पहुँचती है कि यही उसका जीवन है और उसे भी इसी तरह अपने भविष्य का ताना-बाना बुनना है। इस तरह शुरू हो जाता है असंतुलन का एक नया अध्याय।

सिमोन द बोउवर लिखती हैं कि विवाह की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि यह स्त्री को अपेक्षित सुख नहीं देता है। सुख के विषय में विवाह किसी प्रकार का आश्वासन नहीं देता है। यह स्त्री को विकृत कर देता है। उसके जीवन में एक ही घटना दोहराई जाने लगती है। जीवन के प्रथम बीस वर्ष स्त्री के लिये विशेष महत्वपूर्ण होते हैं। वह विश्व को देखती है और अपने भाग्य को जानती है। फिर वह इसी आयु में एक घर की मालकिन बन जाती है। किसी पुरुष के साथ उसका स्थायी सम्बन्ध बन जाता है। उसकी गोद में एक शिशु खेलता है। इस मोड़ पर पहुँचकर उसका जीवन मानों समाप्तप्राय हो जाता है। उसके त्याग और श्रद्धा की सराहना होती है किन्तु उसकी दृष्टि में दो व्यक्तियों की देखभाल और चिंता करना बड़ा निरर्थक-सा होता है। अपनों को भूल जाना तो बड़ा अच्छा है पर प्रश्न है किसके लिये और क्यों?

औरत के जीवन का वह चित्र किसी भी समुदाय या प्रदेश में रंग नहीं बदलता है जिसमें उसे सबसे बाद में बचा-खुचा भोजन खाते हुए दिखाया जाता है। औरत के लिये पोषण महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है कि वह बासी भोजन को व्यर्थ जाने से बचायेगी। जिस सामाजिक और पारिवारिक पर्यावरण में वह रहती है, वह पर्यावरण उसके दुखदायी भविष्य की रूपरेखा तैयार करता है। पोषण, सुरक्षा, मनोरंजन और स्वतंत्रता के अभाव में एक बीमार जीवन पनपने लगता है। यही जीवन वृद्धावस्था में हर तरह से असुरक्षित होता है। प्रजनन अपने आप में प्रकृति की सबसे सार्थक और रचनात्मक विशेषता है और स्त्री उस विशेषता की वाहक है किन्तु वास्तविकता यह है कि यही विशेषता उसके लिये सबसे ज्यादा पीड़ादायक क्षण पैदा करती है। शरीर का दर्द हो चाहे मन की पीड़ा या फिर समाज की शंकायें; सब कुछ प्रजनन

से ही जुड़ा हुआ है। और सच यह है कि 43 फीसदी महिलाओं का ही प्रसव प्रशिक्षित दाई करवाती हैं और 77 प्रतिशत को किसी तरह की चिकित्सा सुविधा नहीं मिल पाती। हर दस हजार महिलाओं में से 54 महिलायें प्रसव के दौरान जीवन त्याग देती हैं और हर 48 में से एक महिला की मृत्यु का कारण भारत में गर्भावस्था या प्रजनन से जुड़ी समस्यायें होती हैं। माहवारी का मामला हो चाहे प्रजनन का, उसके जीवन का 50 फीसदी भोजन व्यवहार परम्परा, मान्यताओं और रूढ़ियों से तय होता है; जिनके मानवीय होने में संदेह है।

भूख और गरीबी का जुड़ाव केवल आर्थिक पहलू से ही नहीं है। वास्तव में इसका सबसे अहम् पक्ष तो राजनैतिक सत्ता से जुड़ा हुआ है। सत्ता का अर्थ केवल मंत्री, मुख्यमंत्री, या प्रधानमंत्री बनना नहीं है बल्कि सत्ता का अर्थ है हम अपना समाज कैसा बनाना चाहते हैं, इसका सपना देखना, इस सपने को पूरा करने की इच्छा पैदा कर पाना, सपने को हासिल करने के लिये कदम बढ़ाना, निर्णय लेना, उसे क्रियान्वित करना और हर परिणाम की जिम्मेदारी लेना। सत्ता वास्तव में हमें अपनी जरूरत को महसूस करके उन्हें पूरा करने के लिये कोशिश करने की आजादी देती है। चूंकि औरत को सत्ता की तरफ कदम नहीं बढ़ाने दिये गये हैं इसीलिये आज वह भरपेट रोटी भी हासिल नहीं कर पाती है। फिर भी महिला स्वास्थ्य का मुद्दा सरकार की प्राथमिकता में नहीं है।

औरतों के साथ बच्चे अब भी इंतजार में हैं कि सरकार का हाथ उनके ललाट पर रखा जायेगा। वे यह भी विश्लेषण कर पाने में अक्षम हैं कि उन्हें केवल आंकड़ों के फेर में क्यों उलझा दिया जाता है। स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण विभाग के वर्ष 2004 के नवीनतम आंकड़े (जनवरी से दिसम्बर तक) के अनुसार प्रदेश में गैस्ट्रोएन्टार्टिस, दस्त, डायरिया, कौलेरा, पीलिया और मैनिनजाईटिस से कुल 605 मौतें ही हुई। यदि यह सच है तो बाल मृत्यु दर के अनुरूप हुई 57 हजार मौतें किस कारण हुईं, यह एक सवाल है। यह एक बड़ा विरोधाभास है, जब यह सवाल खड़ा होता है कि बच्चों की कुपोषण के कारण मौतें हो रही हैं तो सरकार का वक्तव्य यह मौतें कुपोषण से नहीं बल्कि डायरिया, खसरा और गैस्टोएनटार्टिस से हुई हैं। पर अब तो इन बीमारियों के आंकडों को भी निर्ममता से मिटाया जा रहा है। स्वाभाविक है कि जब बीमारी को स्वीकारा ही नहीं जायेगा तो उसके इलाज के ईमानदार प्रयासों का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

अब यह स्वीकार कर ही लिया जाना चाहिये कि राज्य अब स्वास्थ्य सेवाओं के प्रति समाज को नाउम्मीद कर देना चाहता है ताकि चिकित्सा क्षेत्र को बाजार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हवाले किया जा सके। यही कारण है कि बजट का आवंटन भी सतत् सीमित होता गया है। हाल की स्थिति में स्वास्थ्य सेवाओं के मामले में मध्यप्रदेश सरकार हर व्यक्ति पर वर्ष भर में 150 रुपये खर्च करती है। परन्तु वह

यह बताना भूल जाती है कि इसमें से 126 रुपये तो केवल तनख्वाह, वाहन और प्रशासनिक खर्च की धारा में ही बह जाते हैं, एक आदमी पर वास्तव में सरकार 24 रुपये ही खर्च करती है। यानी 2 रूपये प्रतिमाह और 7 पैसे प्रतिदिन। क्या इन परिस्थितियों में सरकारी योजनाओं पर सवाल खड़ा नहीं होता है? क्या यह जरूरत महसूस नहीं होती है कि स्वास्थ्य को राजनैतिक बुनियादी अधिकार का दर्जा मिलना चाहिये और हर लापरवाही पर सजायाफ्ता जिम्मेदारी तय होना चाहिए?

हर नई जिन्दगी किसी न किसी के लिए मौत का पैगाम लेकर आती है– मशहूर दार्शनिक सुकरात का यह कथन मध्यप्रदेश के सन्दर्भ में बिल्कुल ठीक है, जहाँ अभी भी हर रोज 44 महिलाएँ प्रसव के दौरान दम तोड़ देती हैं।

प्रसव के दौरान मृत्यु के मामलों में मध्यप्रदेश के देश के बाकी राज्यों के मुकाबले आगे रहने की प्रमुख वजह कुपोषण और शरीर में खून की कमी है। यही कारण है कि प्रसव के समय 71 फीसदी महिलाएँ अत्यधिक रक्तस्त्राव, उच्च रक्तचाप और अकुशल दाइयों द्वारा प्रसव कराए जाने से पैदा हुए संक्रमण के कारण असमय दम तोड़ देती हैं। मध्यप्रदेश में औसतन 25 प्रसव पर एक महिला की मौत की संभावना सबसे अधिक है, वहीं औद्योगिक रूप से कहीं ज्यादा संपन्न इंदौर व भोपाल जैसे जिलों में मातृत्व से जुड़ी मौतों का आंकड़ा क्रमशः 208 व 351 के आसपास है। ऐसे में राज्य सरकार के लिए अगले पाँच साल में मातृत्व मृत्यु के दर को प्रति लाख 220 तक पहुँचाना नामुमकिन लगता है, खासतौर पर तब जबकि प्रदेश में मातृत्व सुरक्षा के लिए स्वास्थ्य बजट का एक प्रतिशत से भी कम हिस्सा खर्च किया जा रहा है। मातृत्व सुरक्षा का मुद्दा प्रदेश में ढांचागत विकास से किस हद तक जुड़ा हुआ है, इसका प्रमाण तीन जिलों सीधी, शहडोल और मण्डला की हालत से मिलता है जहाँ 55 से 70 फीसदी गाँवों में पहुँचने के लिए मार्ग भी नहीं है। इस तथ्य को इन जिलों में प्रसव मृत्यु के आंकड़ों से जोड़कर देखें तो सीधी में 7.3 प्रतिशत, शहडोल में 11.7 प्रतिशत और मंडला में 10.7 प्रतिशत महिलाएँ ही प्रसव के लिए सरकारी स्वास्थ्य केन्द्रों में पहुँच पाती हैं। प्रत्येक 30 हजार की आबादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया है, मगर दलित बहुल गाँवों के एक बड़े दायरे में फैले होने से आबादी के अनुपात में स्वास्थ्य केन्द्रों की मौजूदा संख्या नाकाफी साबित हो रही है। राज्य सरकार खुद इस बात को मानती है, लेकिन स्वास्थ्य केन्द्रों की संख्या बढ़ाने के लिए न तो बजट में पर्याप्त संसाधन हैं और न ही समुचित संख्या में डॉक्टर व सुविधाएँ। इस तरह सरकार ने राज्य की गर्भवती महिलाओं को भगवान भरोसे ही छोड़ रखा है।

●●

आंकड़ों का मायाजाल

जैसे-जैसे विकास पर बहस ने ठोस रूप लिया है वैसे-वैसे मुद्दों से जुड़े आंकड़ों पर आधारित विश्लेषण महत्वपूर्ण होता गया है। यूं तो अब आपको यह जानकारी भी मिल सकती है कि किस गाँव में किस तरह का घास या बांस पाया जाता है परन्तु जब मातृ मृत्यु की जानकारी माँगी जाती है तो सरकार विशेषज्ञों के हवाले से यह बताती है कि राज्य के स्तर पर हर एक लाख जीवित जन्म पर 498 महिलाओं की मौत होती है। 498 एक बहुत बड़ा आंकड़ा नहीं है इसलिये इसे नजर अंदाज कर दिया जाना चाहिए। फिर जब आप यह पूछेंगे कि छतरपुर या शिवपुरी जिले में मातृ मृत्यु की दर क्या है, तब जवाब मिलेगा कि जिला स्तर पर इसे मापने की कोई तकनीक नहीं है। इसलिये इसके बारे में कोई जानकारी नहीं दी जा सकती है। यह एक चौंकाने वाली बात है। हर स्तर पर गरीबी, शिक्षा, साक्षरता और सड़कों की जानकारी मिल सकती है परन्तु प्रसव या गर्भावस्था के दौरान महिलाओं की होने वाली मृत्यु का पता लगाने की कोई तकनीक ही नहीं। यही पितृसत्तात्मक और नैतिक रूप से भ्रष्ट हो चुकी राज्य व्यवस्था का चेहरा है। हमें यह जान लेना होगा कि समाज इन मौतों में सबसे सक्रिय भूमिका निभाता है और राज्य ऐसी तकनीकें ईजाद ही नहीं करता है जिनसे समाज के अपराधों पर से पर्दा उठता हो। आखिर समाज और राज्य ऐसे अपराधों में एक दूसरे के सहयोगी की भूमिका ही निभाते हैं।

ऐसी स्थिति में मध्यप्रदेश की आरसीव्हीपी नरोन्हा प्रशासन अकादमी के जनसंख्या संदर्भ केन्द्र ने एक विश्लेषण करके जिलों के स्तर पर मातृ मृत्यु को मापने का प्रयास किया। संस्था ने बाल मृत्यु दर और सुरक्षित मातृत्व के लिये दी जा रही सुविधाओं के साथ जिले के स्तर पर हो रही प्रसव मौतों को इस विश्लेषण का आधार बनाया। अपने आप में यह विश्लेषण सिद्ध करता है कि अभी तक राज्य में ऐसे जिलों और विकासखण्डों की पहचान का काम ही शुरू नहीं हो पाया है। यह पहचान हुए बिना सरकार जरूरतमंद और वंचित जिलों में प्राथमिकता के आधार पर काम शुरू नहीं कर पाई। जनसंख्या संदर्भ केन्द्र के अध्ययन से उभरकर आ रहे निष्कर्षों से यह

स्पष्ट होता है कि प्रदेश के दलित और आदिवासी बहुल जिलों में असुरक्षित मातृत्व चरम स्तर पर है और राज्य स्तर पर बताई जा रही मातृ मृत्यु दर (498 मृत्यु प्रति एक लाख जीवित जन्म) से कहीं ज्यादा मौतें नीचे के स्तर पर हो रही हैं। हमने कुल दस जिलों को चुनकर आंकड़ों को जोड़कर एक चित्र स्पष्ट करने की कोशिश

मातृ मृत्यु के कारण नहीं होतीं शादियाँ

पैंतीस वर्ष की कमला बाई जाटव की मृत्यु प्रसव के दौरान हो गई परन्तु मृत्यु का प्रभाव गाँव वालों के माथे पर चिंता की लकीरें गहरी कर गया। खिरिया सुनवई गाँव तक पहुँचने के दो रास्ते हैं। एक रास्ता नाले के कारण बंद हो जाता है तो दूसरा नदी के कारण। आमतौर पर यही होता है कि जब नदी चढ़ी होती है तो गर्भवती महिलाओं के जीवन पर छा जाती है। कमलाबाई खिरिया सुनवई गाँव में प्रसव के दौरान मरने वाली इस साल की पहली महिला नहीं है बल्कि बीते ग्यारह महीनों में इस गाँव में मातृत्व सेवाओं के अभाव में आठ महिलाओं की मृत्यु हो चुकी है। पंचायत बैठती रही है, प्रस्ताव भी पारित हुए पर प्रशासन के लिये खिरिया सुनवई अब तक प्राथमिकता की सूची में नहीं आया है। जहाँ तक एएनएम की उपस्थिति का सवाल है वह वर्ष में एक बार गाँव में पर्यटन के लिए आती है। चूंकि आँगनबाड़ी कार्यकर्ता को पोषण आहार नहीं मिलता है इसलिये सरकारी योजनाओं का लाभ कमलाबाई को मिलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। आँगनबाड़ी कार्यकर्ता बताती है कि केवल पंजीकरण करने से ही महिला का दर्द कम हो जाता है। न तो कोई आँगनबाड़ी को देखता है न ही पंचायत की सुनता है। अब जब भी कोई महिला खिरिया सुनवई में गर्भवती होती है तो पूरे गाँव में भय के बादल छा जाते हैं। अब गर्भवती होने पर अनजानी सी खुशी नहीं होती है बल्कि भय होता है पत्नी या बेटी के मर जाने का। पिछले तीन सालों में इस गाँव में 23 मातृत्व मौतें हुई हैं इसका परिणाम यह है कि कोई भी व्यक्ति अपनी बेटी की शादी इस गाँव में नहीं करना चाहता है। आखिर जीवन की सुरक्षा का मसला भी अहम् है। पर इस मामले का सबसे अहम् पक्ष यह है कि सरकार को इसके बारे में कोई जानकारी ही नहीं है और दस्तावेज कहते हैं कि विकास हो रहा है।

तालिका - 1

क्र.	जिला	मातृ मृत्युदर (एक लाख जीवित जन्म)	गरीबी (ग्रामीण परिवार)	दलित/ आदिवासी जनसंख्या (:)	बच्चों में कुपोषण सूचकांक	जिले का मानव विकास
		तुलनात्मक रूप से पिछड़े जिले				
1	सीधी	1044	56.48	41.79	61.07	0.555
2	छतरपुर	932	42.3	26.76	52.10	0.449
3	झाबुआ	895	54.37	89.66	58.80	0.372
4	सतना	804	51.37	30.60	55.22	0.483
5	टीकमगढ़	842	35.69	28.61	55.28	0468
6	रायसेन	757	50.52	32.12	49.39	0.645
7	शहडोल	750	40.9	51.83	64.62	0.525
8	मण्डला	724	59.08	61.85	59.20	0.578
		तुलनात्मक रूप से विकसित/शहरी जिले				
9	इन्दौर	208	22.39	22.40	48.20	0.694
10	भोपाल	351	35.48	17.29	50.05	0.663

की। इस चित्र में मातृ मृत्यु, गरीबी, जातिगत समीकरण, बच्चों में कुपोषण और मानव विकास सूचकांक के परस्पर सम्बन्धों को समाहित किया गया है।

इन आंकड़ों पर यदि विश्वास किया जाये जो प्रदेश के आदिवासीबहुल सीधी जिले में बच्चों में कुपोषण का स्तर भी सबसे ज्यादा है और वहीं मातृत्व मृत्यु दर भी सबसे ज्यादा हो रही है। यानी वहाँ यह दर 1044 है और 56.48 फीसदी लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करते हैं। बुंदेलखण्ड बघेलखण्ड अंचल की पहचान दलितों के साथ छुआछूत करने वाले समाज के रूप में होती है। इस अंचल के छतरपुर, सतना और टीकमगढ़ जिलों में मातृ मृत्यु दर क्रमशः 932, 804 और 842 है और आधे से ज्यादा परिवार हर रोज एक वक्त के भरपेट भोजन का भी इंतजाम नहीं कर पाते हैं। इसी तरह लगभग 90 फीसदी आदिवासी परिवार वाले झाबुआ जिले में मानव विकास की दर काफी धीमी है साथ ही कुपोषण और असुरक्षित मातृत्व का स्तर भी चिंतनीय है। इसी श्रृंखला में जब दलित-आदिवासी बहुल जिलों की तुलना विकसित या शहरी जिलों से करते हैं तब यह स्पष्ट होता

है कि सामाजिक रूप से उपेक्षा के शिकार उन जिलों को अब भी सरकार अपनी प्राथमिकता की सूची में नहीं हैं। मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में दलित-आदिवासियों की जनसंख्या केवल 17.29 फीसदी है और वहाँ एक लाख जीवित जन्म पर 351 महिलाओं की मृत्यु होती है जो कि सीधी से दो तिहाई कम है। वहीं प्रदेश की औद्योगिक राजधानी इंदौर में तो यह दर केवल 208 है। इसके स्पष्ट मायने हैं कि वंचित समुदाय बहुल इलाकों में मातृ-मृत्यु दर अपेक्षाकृत सबसे ज्यादा है।

इस विश्लेषण को हमें अधोसंरचनात्मक विकास और सुविधाओं की उपलब्धता के संदर्भ में भी देखने की जरूरत है। जब इन्हीं दस जिलों में हम स्वास्थ्य केन्द्र, सड़क और महिला स्वास्थ्य को जोड़कर देखते हैं तो पता चलता है कि जहाँ सड़कें नहीं हैं वहाँ प्रसव मौतें ज्यादा होती हैं क्योंकि जरूरत पड़ने पर उन्हें अस्पताल तक नहीं पहुँचाया जा सकता है।

तालिका - 2

तुलनात्मक रूप से पिछड़े जिले

क्र.	*जिला*	*प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र*	*सुरक्षित प्रसव (%)*	*बिना संपर्क वाले गाँव (%)*	*संस्थागत प्रसव (%)*	*प्रसव पूर्व चिकित्सा वाली महिलाएँ (%)*
1	सीधी	37361	10.4	56.9	7.3	2.5
2	छतरपुर	28057	24.4	61.6	19.1	15.2
3	झाबुआ	39864	22.4	55.8	18.0	12.2
4	सतना	32957	16.9	55.0	13.3	4.3
5	टीकमगढ़	55044	29.5	59.1	21.5	2.5
6	रायसेन	39710	29.4	74.7	15.9	27.3
7	शहडोल	24992	39.7	65.1	11.7	11.1
8	मण्डला	28639	17.6	71.9	10.7	28.8
	तुलनात्मक रूप से विकसित / शहरी जिले					
9	इन्दौर	28270	72.0	49.3	42.6	35.0
10	भोपाल	35767	69.7	50.0	52.5	49.1

स्वास्थ्य के संदर्भ में यह तय किया गया है कि 30 हजार की जनसंख्या पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किया जायेगा। किन्तु गाँवों की स्थिति और उन

तक पहुँच के संकट से यह साफ पता चलता है कि यह एक अव्यावहारिक मापदण्ड है। सीधी जिले में केवल 10.4 फीसदी प्रसव सुरक्षित रूप से हो रहे हैं और वहीं पर 7.3 फीसदी प्रसव संस्थागत रूप से यानी सरकारी या निजी अस्पताल में हो रहे हैं। शेष 93 प्रतिशत प्रसवों का घरों में होना इस सच्चाई का सबूत है कि इतनी बड़ी संख्या में महिलायें जोखिम में हैं। चूंकि सीधी जिले के लगभग 57 फीसदी गाँव सड़कों से नहीं जुड़े हैं ऐसी स्थिति में जरूरत पड़ने पर भी महिलायें प्रसव के लिये अस्पताल नहीं पहुँच पाती हैं। इसी जिले में केवल 2.5 फीसदी महिलाओं को प्रसव पूर्व चिकित्सा सेवायें मिल रही हैं। यदि विश्लेषण के क्रम को आगे बढ़ायें तो स्पष्ट होता है कि छतरपुर में 24.4 फीसदी सुरक्षित प्रसव हो रहे हैं और वहाँ 61 प्रतिशत से ज्यादा गाँव सड़कों से नहीं जुड़े हैं। इस जिले में 19 फीसदी प्रसव अस्पतालों में हो रहे हैं। आदिवासी बहुल झाबुआ जिले में केवल 12.2 फीसदी महिलाओं की प्रसव पूर्व जाँच हो रही है जबकि 18 फीसदी प्रसव अस्पतालों में हो रहे हैं। यहाँ के 55.8 फीसदी गाँव सड़कों से नहीं जुड़े हैं। मण्डला जिले में 62 फीसदी आदिवासी हैं। यह वनाच्छादित जिला है परन्तु 72 फीसदी गाँव सड़कों के सम्पर्क में नहीं हैं। यही कारण है कि यहाँ केवल 10.7 फीसदी संस्थागत प्रसव होते हैं।

व्यवस्था लापरवाह है या संदिग्ध

एक तरफ तो मानव विकास, सुरक्षित प्रसव, सड़कों और अस्पतालों के आंकड़े हमारे सामने हैं वहीं दूसरी तरफ यह भी एक गंभीर मसला है कि जब 70 फीसदी से ज्यादा प्रसव अस्पताल से बाहर हो रहे हैं तो उनका पंजीकरण किस तरह किया जा रहा है और यदि ये प्रसव या गर्भवती महिलायें पंजीकरण के दायरे में नहीं हैं तो स्वाभाविक है कि अपंजीकृत महिलाओं की मातृत्व मृत्यु कहीं भी हमारे विश्लेषण का हिस्सा नहीं बन रही है। शासन व्यवस्था को पारदर्शी और जवाबदेह बनाया जाये, इस दबाव में मध्यप्रदेश सरकार ने अब कम से कम हर जिले में होने वाली मातृत्व मृत्यु, शिशु मृत्यु, संस्थागत प्रसव, टीकाकारण के मासिक आंकड़ों को लाल फीते से बाहर निकालना शुरू किया है। जैसे ही ये आंकड़े सार्वजनिक हुए उनसे कई विस्मयकारी सवाल खड़े होने लगे। 1 अप्रैल 2005 से 30 नवम्बर 2005 तक के आठ माह के मातृत्व मृत्यु के आंकड़ों की छानबीन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार वास्तविक स्थिति को आंकड़ों में हेर-फेर करके छिपाने की कोशिश कर रही है। इन आठ महीनों की अवधि में प्रदेश के सभी जिलों में कुल 10 लाख प्रसव हुए और यदि सरकार मानती है कि हर एक लाख जन्म पर 498 महिलाओं की गर्भावस्था या जचकी के दौरान मृत्यु होती है तो सरकार के रिकार्ड में 4980 महिलाओं की मृत्यु का आंकड़ा दर्ज होना चाहिए था पर सरकार के अधिकृत दस्तावेजों में बताया गया है कि प्रदेश में कुल 985 मातृत्व मृत्यु हुई हैं यानी यहाँ 498 नहीं बल्कि 90 महिलायें

एक लाख जीवित जन्म पर मृत्यु की शिकार हो रही हैं। इसके दो अर्थ हैं या तो प्रदेश में चमत्कारिक क्रांति हो चुकी है या फिर सरकार ने आंकड़ों के साथ खिलवाड़ किया है। यही स्थिति शिशु मृत्यु दर के मामले में भी है। भारत सरकार यह स्पष्ट करती है कि मध्यप्रदेश में प्रति एक हजार जीवित जन्म पर 82 बच्चों की पाँच वर्ष से कम उम्र में मृत्यु हो जाती है। इस दर के आधार पर अप्रैल-नवम्बर 2005 की अवधि में 82,000 बच्चों की मृत्यु हुई है परन्तु मध्यप्रदेश शासन के स्वास्थ्य विभाग के दस्तावेज में कहा गया है कि प्रदेश में 19,102 बच्चों की मृत्यु हुई है यानी शिशु मृत्यु दर लगभग 17.45 है। इन आंकड़ों को नजरअंदाज करके वास्तविकता के दर्द को महसूस किया जाना चाहिये। अब सरकार को यह स्वीकार कर लेना होगा कि हर गाँव और बस्ती के स्तर पर सुरक्षित मातृत्व की सेवायें उपलब्ध कराये बिना इस अभिशाप से मुक्ति संभव नहीं है। आज भी हर गाँव में 'गुणिया' मौजूद है, समुदाय भी तकनीकी रूप से समृद्ध है उसको इस संघर्ष में साथ लेना होगा। सुविधाओं और अधिकारों की दरकार केवल सरकारी डॉक्टर को ही नहीं है। दाइयों और गाँव के स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को भी समानता का अधिकार मिलना चाहिए। नौकरी करने वाले अफसर सामुदायिक कार्यकर्ता से समाज सेवक बनने की अपेक्षा करते हैं वह भी सहजता से नहीं बल्कि दबाव से। शायद इंसानी समाज में ऐसे सम्बन्ध स्थायी नहीं हो सकते हैं। नेशनल कमीशन आन मैक्रोइकोनॉमिक्स एण्ड हैल्थ ने अपनी ताजा रिपोर्ट में स्वीकार किया है कि यदि हमने 1983 में तय किये गये लक्ष्यों पर वास्तव में प्रयास करके समुदाय को तवज्जो दी होती, पोषण, पेयजल, स्वच्छता आदि पर ध्यान दिया होता तो हम 15 लाख नवजात शिशुओं और आठ लाख महिलाओं को मातृ मृत्यु से बचा सकते थे।

••

कहाँ हो जनता के पैरोकार?

हम उदाहरण चाहे गाँव का लें चाहे शहर का, मृत्यु रीठी में हुई हो चाहे सिवनी में, समाज के किसी हिस्से का खून नहीं खौलता है। जब अपराधबोध नहीं होगा तो प्रायश्चित का सवाल ही नहीं उठता है। यह कैसा समाज है जहाँ एक व्यक्ति को सत्ता मिलने पर लोग अपनी पूरी ऊर्जा शोर मचाने में लगा देते हैं परन्तु जब असंख्य महिलायें और बच्चों की राज्य और समाज की लापरवाही से मृत्यु होती है तो चारों ओर सन्नाटा छाया रहता है। आदमी को इस सूचना से कोई लेना-देना नहीं है कि उसके गाँव में कहीं एक गर्भवती महिला दूसरों की लापरवाही की कीमत अपना जीवन त्याग कर चुकाती है। वास्तव में जीवन को भाग्य के भरोसे छोड़ने की कीमत यदि कोई चुकाता है तो महिलायें ही हैं।

जब पाँच साल में एक मर्तबा महिला अपने जनप्रतिनिधि को चुनती है तो उसकी उम्मीद होती है कि वह अपने जीवन की सुरक्षा का हक पाने की अधिकारी बन रही है। यही जनप्रतिनिधि विधायिका के पवित्र सदन में जन और तंत्र की सुरक्षा और भलाई की शपथ लेकर प्रवेश करते हैं। और इसके गवाह होते हैं – उनके आराध्य, उनके मूल्य। गाँवों के समाज के बीच से ही उठ कर ये जनप्रतिनिधि उस मंच पर पहुँचते हैं जहाँ समाज के, खासतौर पर वंचित तबकों की भलाई और अधिकारों के संरक्षण के लिये नीतियाँ और कानून बनाये जाते हैं। लोकतंत्र के सिद्धान्त उन्हें कानून लागू करने का अधिकार देते हैं पर यह उनका दायित्व होता है कि राज्य में कहीं भी यथोचित कारणों के बिना किसी की मृत्यु न हो, न ही पीड़ा लोगों के जीवन का चरित्र बने। वे केवल कानून बनाने के लिये ही जिम्मेदार नहीं हैं बल्कि उसके परिणामों के लिए भी जिम्मेवार हैं। केवल चर्चा करना ही उनका दायित्व नहीं है बल्कि इसके खिलाफ संघर्ष करना भी उन्हीं लोगों का दायित्व है।

परन्तु अफसोस मध्यप्रदेश एक बीमार कुपोषित और ऊर्जाहीन प्रदेश माना जाता है क्योंकि यहाँ के जनप्रतिनिधि पाँच दशकों में यही सुनिश्चित नहीं कर पाये हैं कि गर्भवती महिलाओं को जरूरी पोषण आहार मिले और उनका प्रसव सुरक्षित पद्धति

से हो सके। यूँ तो पिछले सालों में 43 मर्तबा अलग-अलग मुद्दों पर विपक्ष ने सदन की कार्रवाई का बहिष्कार किया है परन्तु एक बार भी यह बहिष्कार मातृ या शिशु मृत्यु के कारण नहीं हुआ।

वर्ष 2004 से वर्ष 2005 के सत्रों में लगभग 20 हजार सवाल, ध्यानाकर्षण, स्थगन और चर्चा में उठाये गये परन्तु इनमें से 208 सवाल ही महिला और बच्चों के स्वास्थ्य से जुड़े हुए रहे पर ज्वलंत पक्ष इनमें भी नदारद रहे।

यह एक दुखद तथ्य ही है कि हर साल या कहें कि अब तो हर विधायी सत्र में सरकार महिलाओं एवं बच्चों के स्वास्थ्य के लिये एक नई योजना की घोषणा करती है परन्तु वहाँ बहस नहीं होती कि पुरानी योजना का हश्र क्या हुआ? सरकार सतत् रूप से अपने दायित्वों से पीछे हटती जा रही है पर फिर भी सदन इस पर मौन है। ऐसी स्थिति में यह माना जाना चाहिए कि समाज के मुद्दों के संदर्भ में हम एक संसदीय आपातकाल के दौर से गुजर रहे हैं जिसमें लोगों के मुद्दों के लिये जरूरी बहस का रणनीतिक ढंग से बहिष्कार किया जा रहा है।

सदनों के सत्र गैर-जिम्मेवार राजनीति की भेंट चढ़ रहे हैं। वास्तव में संसदीय व्यवस्था जिस तरह से सामुदायिक मुद्दों के प्रति अपनी जवाबदेहिता से मुँह मोड़ रही है वह लोकतंत्र के लिये चिंताजनक है। यह नजर आने लगा है कि विधायिका के सदन के पक्ष और विपक्ष सुनियोजित ढंग से परस्पर सामंजस्य बिठाकर इन मुद्दों पर बहस के अवसरों को पूरी तरह से खत्म कर देना चाहते हैं। साथ ही किसी भी स्तर पर संकुचित और हितों की राजनीति के दायरे में रहकर वे केवल भौतिक सत्ता और लाभ का व्यवसाय करना चाहते हैं। सदन अब ऐसा अखाड़ा होता जा रहा है जहाँ नियमों का उपयोग शर्तों पर होता है। उम्मीद यह की जाती है कि 4 माह में 15 दिन के लिये चलने वाली विधानसभा में मानवीय विकास, शोषण और वंचित समुदायों के मुद्दे उठाये जायेंगे, जहाँ सरकार की जवाबदेही सुनिश्चित की जायेगी। अब ऐसी अपेक्षायें कल्पना का रूप लेती जा रही हैं। इस विचार को नकार देने के अब कोई आधार नहीं हैं कि विधानसभा सदस्यों में प्रश्नकाल, शून्यकाल और स्थगन को गंभीरता से लेने की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। और यह मानकर जनप्रतिनिधि राजधानी में इकट्ठे होने लगे हैं कि चलो स्थानन्तरण लाइसेंस और ठेकेदारी के काम कराकर सत्ता में होने का अहसास कर लिया जाये। इतना ही नहीं आदिवासियों, दलितों, महिलाओं और बच्चों के अधिकारों के हनन के मामले खोजने की जिम्मेदारी अब जनप्रतिनिधियों के खातों से निकलकर जन-संगठनों और संस्थाओं के खाते में जा रही है। जमीनी स्तर पर काम करने वाली संस्थाओं से अब अपेक्षा की जाने लगी है कि वे सवाल और स्थगन तैयार करें। इसका परिणाम यह हुआ है कि मुद्दों से जुड़ाव टूटने के कारण विधायक ठोस बहस करने की क्षमता ही खोते जा रहे हैं। उनकी अपेक्षा होती है कि यदि जंगल, जमीन या बच्चों की मौत का मामला है तो

संगठन के कार्यकर्ता एक पेज की लघु कथा बनाकर प्रतिनिधि को दे दें। वे कतई नहीं जानना चाहते हैं कि मातृ मृत्यु दर या कुपोषण का स्तर सबसे ज्यादा हमारे प्रदेश में क्यों है? या फिर जिस तरह से विश्वबैंक और एशियाई विकास बैंक से 3 हजार करोड़ रुपये का कर्जा लेकर सरकार पानी का बाजारीकरण करने को क्यों तत्पर है? यह एक बहुत ही आश्चर्य का विषय है कि एक ओर तो आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया तेज गति से देश में चल रही है परन्तु विधायकों का अपना इन मुद्दों के प्रति न तो कोई नजरिया विकसित हुआ है न ही राजनैतिक दलों और विधायिका ने प्रशिक्षण अध्ययन के जरिये उसे विकसित करने की कोशिश की है। अध्ययन के नाम पर बहरहाल विदेश यात्राओं के आरामतलब अवसर जरूर उन्हें मिलते हैं जिनका लाभ अफसर खूब उठाते हैं।

जिन तीन महीनों से लगातार प्रदेश में नेतृत्व बदलेगा, इस विषय पर विश्लेषण-बहस हो रही थी, उन्हीं तीन महीनों में से अक्टूबर महीने में कटनी के रीठी विकास खण्ड में बहुत दर्दनाक घटना घट रही थी। इस विकासखण्ड की 56 पंचायतों को स्वास्थ्य सुविधायें देनेवाले अस्पताल में 32 बच्चों में से 20 बच्चे पूरी आँखें खोल कर जीवन के रंगों को एक नजर भर कर भी देख न सके और उनकी मृत्यु हो गई। इस विकासखण्ड में एक भी प्रसूति एवं महिला रोग विशेषज्ञ नहीं है। यहाँ के अस्पताल में शल्य चिकित्सा, आपातकालीन व्यवस्था और दवाइयों का अस्तित्व कहीं नजर नहीं आता है। इन परिस्थितियों में एक महिला चिकित्सक विकलांग होने के बावजूद भरसक कोशिश करते-करते हार रही है; पर सुविधायें और विशेषज्ञ न होने की स्थिति में उसे भी किसी चमत्कार का ही इंतजार है। इतना होने के बावजूद भी न तो स्थानीय स्तर पर कोई हलचल हुई न ही राज्य स्तर पर आपदा को जानने की कोशिश की गई। बच्चों की लगातार मौतों को देखते हुए भी समाज ने अपने जिन्दा होने का अहसास नहीं कराया। पर वहीं दूसरी ओर सत्ता हासिल करने और करवाने के संघर्ष में हर कोई यूं जुट गया मानों अब कभी रीठी में बच्चों को मरना नहीं पड़ेगा या मानों बच्चे को जन्म देते हुए होने वाले दर्द को अब नया नेतृत्व अपनी बाँहों में भर लेगा।

नेतृत्व हासिल करने के लिये मध्यप्रदेश की राजधानी में जिस तरह का अराजक माहौल बन रहा है उससे असुरक्षित भविष्य के संकेत मिलते हैं। इसे असुरक्षा का संकेत इसलिये माना जाना चाहिये क्योंकि वास्तव में यह राजनैतिक दंगा किसी प्रतिबद्धता का परिचायक नहीं है बल्कि स्वार्थ से भरी-पूरी एक भीड़ की उपस्थिति का प्रमाण है। इस भीड़ में गली के वे अराजक तत्त्व हैं जो कानून से बचने के लिये राजनीतिक संरक्षण चाहते हैं। इसमें ठेके चाहने वाले ठेकेदार हैं। हर किस्म के दलाल और ताकत चाहने वाले लोग हैं, तो इसी भीड़ में अतिक्रमण विरोधी कार्रवाई से बचने की कोशिश में लगे गुमटी-ठेलेवाले भी हैं। लोगों में एक भय पैदा कर दिया

गया है कि यदि वे नेतृत्व के साथ नहीं हैं तो उनकी जिन्दगी को वैधानिक ढंग से तोड़-फोड़ दिया जायेगा। इन्हीं परिस्थितियों में राजनैतिक नेता भूखे-नंगे लोगों की तलाश करते हैं। ताकि खाने के एक सस्ते से पैकेट के बदले उन्हें भीड़ में शामिल करके आका को प्रभावित किया जा सके। वे उस व्यक्ति के साथ होते हैं जो उनके अच्छे-बुरे मंसूबों को पूरा करने में मदद करे। इसके लिये वे कुर्सियाँ फेंकने, महिलाओं के कपड़े फाड़ने, पत्थर फेंकने, आग लगाने और तोड़-फोड़ का काम पूरी तन्मयता से करते हैं। भला क्यों न करें संविधान उन्हें समानता और भावनाओं की अभिव्यक्ति का अधिकार जो देता है। परन्तु वहीं दूसरी ओर जब अस्पताल न होने के कारण बच्चे को जन्म देते ही महिला के मर जाने पर राजनैतिक दलों के कार्यकर्ता इस संवैधानिक अधिकार का उपयोग कभी नहीं करते हैं। मध्यप्रदेश में 11,980 आदिवासी परिवारों के घर अतिक्रमण के नाम मिट्टी में मिला दिये गये पर इतने कार्यकर्ता इकट्ठे नहीं हुए, दलितों पर अत्याचार के मामले में प्रदेश सबसे आगे रहा। किसी ने पहल नहीं की कि एक मर्तबा इन मुद्दों पर भी इतनी जोर से चीखा जाये कि गले की नसें उभरकर बाहर आ जायें और सत्ता के गलियारों की खिड़कियों में दरार आ जाये।

यह भी एक विडम्बना है कि अब स्वास्थ्य विभाग में एक उपविभाग सत्ताधारी राजनैतिक दल के चुनावी घोषणा पत्र के क्रियान्वयन की निगरानी करेगा। सवाल यह है कि राजनैतिक दल चुनावी घोषणा पत्र की शपथ लेकर दायित्व ग्रहण करता है या फिर संविधान की शपथ लेकर। शपथ तो संविधान की ली जाती है पर उस क्षण के बाद संविधान को राज्य की पवित्र सलाखों के पीछे सुरक्षित रख दिया जाता है। वास्तव में यह समय निष्ठाओं के विश्लेषण का समय है। जो सत्ता में आते हैं अब वे केवल उनके प्रति अपने आपको जवाबदेह मानते हैं जो उन्हें चुनाव लड़ने, प्रचार करने, शक्ति प्रदान करने या राजनैतिक दंगे कराने में मदद करते हैं। वे राज्य की आम जनता के प्रति जवाबदेह नहीं हैं। यही कारण है कि राजनैतिक दलों के कार्यकर्ता, जिनकी प्रदेश में संख्या 54.03 लाख है, जनहित के मुद्दों पर संगठित नहीं होते हैं। नेता के स्वागत और झूठे प्रचार पर वे लाखों रुपये खर्च करते हैं परन्तु कुपोषण निवारण अभियान में बच्चों की स्वास्थ्य जाँच हो, इसके लिये न तो उनके पास समय है न ही संसाधन। हर राजनैतिक दल अपने कार्यकर्ताओं को यह प्रशिक्षण देते हैं कि समाचार माध्यमों का उपयोग किस तरह से करना है, पर वे यह नहीं सिखाते हैं कि शिक्षा, स्वास्थ्य और पोषण के मुद्दों पर नीतियाँ बनवाने में वे क्या भूमिका निभा सकते हैं? ऐसे कार्यकर्ताओं का स्वरूप क्या होता है, क्या वे समाज को भूख, भय और गरीबी से मुक्त करने के लिये कार्यकर्ता बनते हैं या रात में पैदा होकर सुबह होते ही मर जाने वाले कीड़ों के समान छोटे-छोटे स्वार्थों को पूरा करने के लिए राजनैतिक पहचान चाहते हैं। यदि वे समाज के लिये कार्यकर्ता बनते तो

इस तरह की राजनैतिक हिंसा के साक्षी न बनते।

राजनैतिक दलों की हस्तियों के प्रभाव को भीड़ के आकार से मापा जाता है न कि जनमुद्दों को हल करने के लिये किये गये उनके प्रयासों से। यही कारण है यह कभी विश्लेषण नहीं किया जाता है कि सांसद औरं विधायक विधायी सदनों में सबसे वंचित समुदायों के कितने मुद्दे उठाते हैं। यह एक निराशाजनक चित्र है कि सदनों में उठाये जाने वाले मुद्दों में तीन फीसदी ही भूख, बच्चे, महिलाओं और वंचितों से सम्बन्धित होते हैं। पर कार्यकर्ता अपने नेताओं पर यह दबाव भी नहीं बनाते हैं कि गाँव में हर रोज मरने वाली माँओं को बचाने की पहल करें। यह सच्चाई भी राजनैतिक सत्ता के संघर्ष का विषय नहीं बनी कि मध्यप्रदेश में होने वाली हर एक सौ मौतों में से 37 मौतें चार साल से कम उम्र तक के बच्चों की होती हैं और बच्चों को जन्म देते समय एक हजार में से 6 महिलायें मर जाती हैं, जिन्हें बचाया जा सकता है।

इस मर्तबा राजनैतिक दलों के बीच सत्ता परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि एक ही दल के भीतर नेतृत्व में बदलाव हुआ पर बदलाव के इस पर्व में 1.51 करोड़ रुपये के विज्ञापन पाँच दिन में कार्यकर्ताओं ने अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित करने के लिये जारी किये। जबकि जनमुद्दों से सम्बन्धित विज्ञापन का दायित्व केवल सरकार का ही माना गया है।

समाज को प्रभावित करने वाले मुद्दों को अब राजनैतिक कह कर नकारा भी जाने लगा है। यदि आप आदिवासी इलाकों में पाँच सितारा ऐशगाह के निर्माण की वकालत करेंगे तो निश्चित ही प्रगतिशील कहलायेंगे, किन्तु यदि आप आदिवासियों के शोषण और कुपोषण का मुद्दा उठाते हैं तो असामाजिक और राज्य विरोधी माने जायेंगें। फिर यदि संघर्ष की राह चलेंगे तो उग्रवादी करार दिये जायेंगे। जनमुद्दों का नकारात्मक ढंग से राजनीतिकरण भी हुआ है। सिवनी जिले के पाठादेवरी गाँव की गरीब सुमता बाई को प्रसव के समय जब चिकित्सा सुविधा की जरूरत पड़ी तो स्वास्थ्य कार्यकर्ता उसे लखनादौन विकासखण्ड के सरकारी अस्पताल में ले गये। वहाँ दर्द से कराह रही सुमता बाई से अस्पताल के कर्मचारियों ने छह सौ रुपये की माँग की जिसे वह पूरा नहीं कर पाई। नौ घंटे तक उसे किसी ने हाथ नहीं लगाया तब एक चिकित्सक ने उसका प्रसव करवाया। बच्चे को जन्म देकर सुमता मर गई। इस मुद्दे पर पाठादेवरी पंचायत ने सिवनी कलेक्टर को सर्वसम्मति से पारित प्रस्ताव भेजा कि जिम्मेदार स्वास्थ्यकर्मियों पर कठोर कार्रवाई की जाये। परन्तु यह कहकर इस प्रस्ताव को प्रशासन ने फाइलों में बंद कर दिया कि यह तो राजनैतिक लोगों के आपसी झगड़े का मुद्दा है। यह केवल एक उदाहरण नहीं है बल्कि जब संवेदनशील मुद्दे उठाये जाते हैं तो उन्हें राजनैतिक कहकर अविश्वसनीय और गलत करार दिया जाता है। मानो राजनीति का अब चरित्र ही अविश्वसनीय हो गया हो। एक हद तक

यह सही भी है। क्योंकि अब राजनैतिक कार्यकर्ताओं की प्रतिबद्धता पर सवालिया निशान तो लग ही गया है क्योंकि उनकी रुचि निजी हितों को पूरा करने में है। यही कारण है कि अब औपाचारिक रूप से यह नियम बन गये हैं कि सत्ताधारी राजनैतिक दलों के कार्यकर्ताओं की अनुशंसा पर तबादले होंगे, ठेके दिये जायेंगे, यही तो इनाम है राजनैतिक कार्यकर्ता की प्रतिबद्धता का।

●●

महिला स्वास्थ्य : हर क्षण चरित्र पर सवाल

औरत के नजरिये से देखने पर समाज एक अलग ही रूप में नजर आता है। वह वैसा रचनात्मक और स्वस्थ नहीं होता है, जिस तरह यह पुरुषों के लिये होता है। यहाँ महिलाओं के लिये गरीबी शायद एक बड़ा बोझ नहीं है परन्तु हर माह, माहवारी के दौर से गुजरना और गुप्तांगों से होने वाले सफेद पानी के बहाव के बोझ से वे दोहरी हुई जाती हैं। विज्ञान के नजरिये से तो यह बहुत गंभीर समस्या नहीं है परन्तु समाज इसे स्त्री के चरित्र, उसके भाग्य और जीवन की स्वच्छता से जोड़कर परिभाषित करता है। यह सही है कि प्राकृतिक रूप से नियमित होने वाली इन प्रक्रियाओं को यदि गंभीरता से न लिया जाये तो यह जानलेवा बीमारियों का रूप ले लेती हैं। और यह बीमारियाँ प्रजनन मार्ग में संक्रमण के रूप में सामने आती हैं।

महिलाओं के शरीर में घटने वाली शारीरिक घटनाओं को इतने अलग-अलग रूपों में परिभाषित किया गया है कि उन पर खुलकर चर्चा करना भी बुरा माना जाता है। यह चर्चा चरित्र के हनन से जुड़ जाती है। यूं तो चिकित्सक इसे एक सामान्य शारीरिक प्रक्रिया मानते हैं। जानकार कहते हैं कि जिस तरह पौधों से नियमित रूप से फलों की उत्पत्ति होती है वैसे ही श्वेत स्त्राव या माहवारी एक औरत की प्रजनन शक्ति का प्रमाण होती है।

सामाजिक स्तर पर इसे खुलकर स्वीकार नहीं किया जाता है। सफेद पानी के बहाव की शुरुआत से किशोरी के मन को जीवन भर का बोझ ही मिलता है। वह तनाव में होती है। उसे लगता है कि उसने कुछ ऐसा गलत काम या व्यवहार किया है जिससे उसके जननांगों में से इस तरह का पानी बह रहा है। परिवार की सयानी महिलायें यहाँ तक की उसकी माँ भी इस स्थिति को तकनीकी रूप में समझाने के बजाय अपनी बेटी पर बंदिशें लगाना शुरू कर देती है। वे मानती हैं कि यदि अब उसकी जवान होती बेटी के किसी पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध बन गये तो वह गर्भवती हो जायेगी और यह एक अमिट कलंक होगा।

अब एक तनाव भीतर पनपने लगता है, एक असुरक्षा और अविश्वसनीयता आपसी सम्बन्धों में आ जाती है और बेटी के प्रति सहज ही अविश्वास की भावना पनपने लगती है। गाँव की दाइयाँ बताती हैं कि माहवारी या सफेद पानी के बहाव के बारे में कोई चर्चा नहीं करता है। इसका पता तो घर के आंगनों में सूख रहे कपड़ों पर पड़े दागों से ही चलता है। अब भी सामान्यतः मासिक धर्म के दौरान पहने गये कपड़ों को अंधेरे में ऐसे स्थान पर सुखाया जाता है जहाँ परिवार या रिश्तेदारों का आना-जाना नहीं होता है। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे वस्त्रों के धूप में न सूखने या सही ढंग से साफ न होने के कारण संक्रमण का खतरा बढ़ता जाता है। और शरीर की एक सामान्य प्रक्रिया औरत के स्वास्थ्य के लिये अभिशाप बन जाती है। महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले में महिलाओं के स्वास्थ्य के मुद्दे पर कार्य कर रही संस्था 'सर्च' के निष्कर्ष बताते हैं कि 92 फीसदी महिलायें किसी न किसी प्रजनन अथवा यौन सम्बन्धी संक्रमण की शिकार हैं।

सामुदायिक व्यवहार के अध्ययनों से पता चलता है कि कपड़ों पर नजर आने वाले दागों के साथ-साथ इसे महिलाओं की शारीरिक कमजोरी के साथ भी जोड़कर देखा जाता है। यूं तो इस श्वेत प्रवाह से शरीर के अवशिष्ट पदार्थ ही महिलाओं के शरीर के साथ बाहर आते हैं। किन्तु सामाजिक स्तरों पर इसे स्त्री की शक्ति और ताकत के बह जाने के रूप में परिभाषित किया जाता है। साथ ही यह भी माना जाता है कि महिलाओं के शरीर में यौन सम्बन्धी अपेक्षायें पुरुषों से ज्यादा होती हैं और इसी 'गर्मी' के कारण श्वेत स्त्राव होता है। जिसे फिर नियंत्रित करने के लिये गर्मी पैदा करने वाले खाने के उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है। तब महिलाओं को दूध, क्रीम, अण्डे या गुड़ से बने खाद्य पदार्थ खाने को नहीं मिलते हैं। इन तमाम विसंगतिपूर्ण व्यवहारों का परिणाम यह होता है कि महिलायें शारीरिक रूप से कमजोर होती जाती हैं और उनके स्वास्थ्य पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

अपने आप में हम यह जानने की कोशिश कर रहे हैं कि गर्भवती होने से लेकर प्रसव होने के बाद तक की स्थिति में स्त्री शरीर के भीतर घटने वाली घटनाओं पर समाज और सामाजिक व्यवहार ने कितने व्यापक तरीकों से नियंत्रण कर रखा है। सवाल अभी यह नहीं है कि यह व्यवहार सही है अथवा गलत; पर बड़ा सवाल यह है कि इस पूरी प्रक्रिया में महिलायें कहाँ हैं?

प्रसव से जुड़े सामाजिक व्यवहार

आज के दौर में हमारा पारम्परिक समाज भी संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। जहाँ वह न तो अपने पारम्परिक विज्ञान का भली-भांति उपयोग कर पा रहा है न ही आधुनिक पद्धतियों का। यह एक विडंबनापूर्ण स्थिति है कि प्रजनन से सम्बन्धित समस्याओं को हल करने के बजाय इन्हें महिलाओं के चरित्र के सवाल से जोड़ दिया

जाता है। परिणामस्वरूप उनमें अपराधबोध का जन्म होता है और यह तनाव उनकी मृत्यु का कारण बन जाता है।

प्रजनन स्वास्थ्य का यह सवाल प्रत्यक्ष रूप से सुरक्षित मातृत्व के अधिकार से जुड़ता है। स्पष्ट रूप से कहा जाये तो औरत को एक यंत्र के रूप में हर पल उपयोग में लाया जाता है। पुरुष सत्तात्मक समाज की नजर हर उस क्षण पर लगी रहती है कि कब वह एक उत्पादक की भूमिका में आयेगी। और चूंकि प्रजनन से पुरुष सत्तात्मक समाज के राजनैतिक स्वार्थ जुड़े हैं इसलिये यदा-कदा वह संरक्षक की भूमिका में भी नजर आता है। मध्यप्रदेश का बुंदेलखण्ड का इलाका एक सामंतवादी इलाका है जहाँ दलित समुदाय बहुलता में है। वैसे तो गर्भावस्था से लेकर प्रसव के बाद तक की स्थिति में होने वाले व्यवहार में विभिन्न समुदायों के बीच बहुत व्यावहारिक अंतर नहीं है इसीलिये एक इलाके के व्यवहार पर नजर डाल कर व्यवस्था को समझा जा सकता है।

बुंदेलखण्ड के क्षेत्र में जैसे ही यह तय हो जाता है कि परिवार की महिला गर्भवती है तो उसकी बाँह में या गले में कुल देवता (हर परिवार या कुटुम्ब के एक कुल देवता तय होते हैं, जिनकी नियमित पूजा की जाती है) के नाम पर गंडा या ताबीज बाँध दिया जाता है। यह अवस्था आते ही गर्भवती महिलाओं के खानपान को नियंत्रित कर दिया जाता है। माना यह जाता है कि ज्यादा खाने से बच्चे पर दबाव पड़ेगा या फिर वह बहुत जयादा भारी होगा जिससे प्रसव के समय तकलीफ होगी। प्रसव के समय यानी कि नौ माह पूरे होते समय गर्भवती महिला का पेट जितना छोटा होता है उसे उतना ही बेहतर माना जाता है। ज्यादा से ज्यादा श्रम करना गर्भवती महिला और प्रसव के लिये अच्छा माना जाता है। और जब प्रसव पीड़ा होती है तो उसे घी पिलाया जाता है।

जैसे ही यह तय हो जाता है कि प्रसव का समय आ गया है वैसे ही गाँव की सयानी महिलाओं को इकट्ठा कर दाई को बुलवाया जाता है। प्रसव ऐसे कमरे में करवाया जाता है जिसका सामान्यतः कम उपयोग होता है और हवा-रोशनी कम होती है। गर्भवती महिला को ईंटों की बनी एक खास संरचना पर बिठाया जाता है। उसे पानी में शराब मिलाकर मंत्र पढ़कर दिया जाता है। मूलतः प्रसव का काम दाई ही करती है और बच्चे के पैदा होते ही माँ के बालों की एक लट उसके मुँह में दबा दी जाती है। मान्यता यह है कि इससे आंवल (अपरेटा) जल्दी बाहर आ जाती है। गर्भाशय के बाहर आ जाने की स्थिति में दाई अपनी एड़ी (पैर के पंजे के पिछले हिस्से से) गर्भाशय को धकेल कर अंदर करती है। आमतौर पर यही व्यवहार संक्रमण का सबसे बड़ा कारण बनता है। बच्चे के जन्म के बाद अब भी नाल काटने के लिये पुराने धागे या ब्लेड का उपयोग किया जाता है। इसके बाद नाभि पर तेल लगाकर देवी या देवता के नाम पर भभूत (राख) लगा दी जाती है। प्रसव के बाद जिस कमरे में महिला को रखा जाता है वहाँ

पाँच दिन तक नियमित आग का धुंआ किया जाता है।

इस दौर में महिला को प्रसव के बाद गुड़ या गाय का दूध दिया जाता है और पीने के लिये 10 दिन तक चरूआ का पानी उपयोग में लाया जाता है। चरूआ एक मिट्टी का घड़ा होता है जिसमें तांबे के सिक्के, खैर की लकड़ी, अजवायन और कुछ जड़ी-बूटियाँ पानी में मिलाई जाती हैं। इस मिश्रण को इतना उबाला जाता है कि पानी आधा रह जाये। यह पानी पकने पर लाल रंग ले लेता है। इसके साथ ही आगे पाँच दिनों तक सम्पन्न परिवारों में घी में गुड़, सौंठ, मेवे एवं हल्दी को उबालकर एक गाढ़ा तरल पदार्थ, जिसे हरीरा कहते हैं, भी खिलाया जाता है। बुंदेलखण्ड के इलाकों में प्रसव के पाँच दिन बाद प्रसूता को नहलाया जाता है। उसे नहलाने के लिये नीम के पत्ते, अजवायन को पानी में उबाला जाता है।

बच्चे का जन्म होने के बाद 41 दिनों तक छुआछूत मानी जाती है। इस अवधि में नवजात शिशु की माँ को किसी भी धार्मिक या सामाजिक कार्यक्रम में भाग लेने की अनुमति नहीं होती है। इतने दिनों तक महिलाओं को हरी सब्जी या पत्तेदार सब्जियाँ खाने में बिल्कुल नहीं दी जाती हैं। छूत के 3 दिनों की अवधि में नवजात शिशु को भी माँ से अलग रखा जाता है।

महिलाएँ किस तरह की स्वास्थ्य समस्याओं का सामना करती हैं और घर से बाहर इलाज के लिए जाने पर उन्हें किन परेशानियों का सामना करना पड़ता है, यह जानने के लिए भारतीय समाज में पुरुष प्रधान कुल परम्पराओं की प्रमुखता पर गौर करना जरूरी है। यह इसलिए, क्योंकि इन्हीं कुल परम्पराओं के कारण ही महिलाएँ स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों का सामना चुपचाप खामोशी के साथ करती हैं। यदि मर्ज बढ़ जाए तो वे धर्म और अध्यात्म में डूबकर अपनी पीड़ा को भुलाने की कोशिश करती हैं। भारतीय समाज में पुरुष प्रधान व्यवस्था एक महिला से अच्छी माँ और सुघड़ गृहिणी बनने की उम्मीद करती है। परिवार में पुरुष महिलाओं पर नियंत्रण रखने में इसलिए भी दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि अगर वे ऐसा न करें तो परिवार की महिलाएँ अपनी यौनेच्छा को पूरा करने के लिए किसी और साधन का सहारा ले सकती हैं और इससे कुल की मर्यादा तो प्रभावित होगी ही, साथ में वंश परम्पराओं पर भी असर पड़ता है। खासतौर पर ऊँची जातियों में परिवार की महिलाओं को कुल की मर्यादा का पालन करने की सख्त हिदायत दी जाती है और यह प्रथा आर्य संस्कृति के जमाने से चली आ रही है। महिलाओं को पतिव्रता और स्त्रीधर्म अपनाने की सलाह दी जाती है। हिंदू समाज में रहने वाली हर महिला को इन वर्जनाओं की जानकारी होती है, क्योंकि शादी से पहले और उसके बाद उन्हें इन्हीं वर्जनाओं के बीच जीना होता है। किशोरावस्था से लेकर गर्भधारण, गर्भपात, मासिक धर्म आदि सभी परिस्थितियों में स्त्री के व्यवहार और उसकी इच्छाओं पर पुरुष प्रधान समाज और कुल का नियंत्रण रहता है।

सत्ता के लिये बेटे की चाह

महिलाओं के स्त्री धर्म में कुल परम्पराओं का पालन करने के साथ एक और बाध्यता वंश को आगे चलाने के लिए एक बेटे को जन्म देने की भी है। यह इसलिए है, क्योंकि समाज में लड़के को ही संपत्ति का हक मिलता है। बेटियों को पराया धन माना जाता है, जिसके कारण पुरुषों की तुलना में महिलाओं की संख्या में लगातार कमी आ रही है। समाज और परिवार की कई परम्पराओं, जैसे दाह संस्कार आदि में भी सिर्फ बेटे को ही भाग लेने की अनुमति है, इसलिए भी बेटे की चाह ही सबसे अधिक होती है, ताकि वह कुल की परम्पराओं का निर्वाह कर सके। भारतीय समाज में यह मान्यता है कि प्रजनन की शक्ति सिर्फ पुरुषों को ही प्राप्त है और यदि कोई महिला बच्चे को, खासकर बेटे को जन्म न दे सके तो उसके लिए पुरुष को नहीं, बल्कि महिला को ही दोषी माना जाता है। अगर किसी महिला को बेटा नहीं होता है तो उसके लिए कई अजीबोगरीब टोटके भी किए जाते हैं। मिसाल के लिए उत्तर प्रदेश के सहारनपुर में ऐसी महिलाएँ किसी और के मकान में आग लगा देती हैं, ताकि उसको बेटा पैदा हो सके। हालांकि बेटे के साथ एक बेटी की जरूरत भी परिवार में बताई गई है, ताकि वह रक्षाबंधन जैसी परम्पराओं का निर्वाह तो कर ही सके, साथ में घर में समृद्धि का प्रतीक बनकर भी रहे। बेटे की चाह में महिला को बार-बार गर्भपात करवाने से अत्यधिक रक्तस्त्राव होता है जिससे उसे कमजोरी आ जाती है, या फिर शरीर में खून की कमी हो जाती है। इन सबके बाद भी गर्भपात हरेक महिला के जीवन का एक अभिन्न अंग होता है। बचपन से ही लड़कियों के खानपान में पर्याप्त ध्यान न रखने से शादी के फौरन बाद उनमें गर्भपात की संभावना अधिक होती है। गर्भपात के डर से गर्भवती स्त्रियों को नीम जैसी कड़वी चीजें खाने को नहीं दी जाती हैं। यदि उसे कोई कड़वी दवा देना जरूरी हो तो उसे उसकी जड़ को खाने की सलाह दी जाती है। यह भी माना जाता है कि यदि महिला के शरीर में जरूरत से ज्यादा गर्मी है तो उसे गर्भ नहीं ठहरता। इसके अलावा यह भी माना जाता है कि कोई गर्भवती महिला यदि किसी चौड़ी खाई को कूदकर पार करे तो भी उसका गर्भपात हो सकता है। गर्भावस्था के दौरान बहुत ज्यादा काम करने, वजन उठाने, कड़ी मेहनत करने और कच्चा पपीता खाने आदि को भी गर्भपात करवाने वाला माना जाता है, इसलिए इन पर सख्त पाबंदी होती है। मध्यप्रदेश के भिण्ड एवं मुरैना जिलों में लड़के एवं लड़कियों की संख्या में लगभग 200 का अंतर आ गया है। इन इलाकों में सामंतवादी प्रवृत्ति है जिसमें यह माना जाता है कि परिवार में लड़की का जन्म होने से ठाकुर की मूँछ नीची हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप यहाँ सोनोग्राफी के जरिये लिंग निर्धारण कर गर्भपात कराने की व्यवस्था बहुत ही सामान्य हो चली है। फिर यदि लड़की का जन्म होता भी है तो उसे अफीम चटाकर, गला

दबाकर या भूखे रखकर खत्म कर दिया जाता है। यह नहीं माना जाना चाहिए कि बेटे की चाह केवल गरीब या अशिक्षित परिवारों में है बल्कि सम्पन्न और उच्च शिक्षित परिवार भी यह वहशी व्यवहार करने में आगे हैं, लेकिन यहाँ यह कहना मुश्किल है कि क्या इनका गर्भपात से भी कोई नाता है।

दूसरा पक्ष – बचपन से लड़की को यही सिखाया जाता है कि शादी ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है और माँ बनना सबसे बड़ा सुख। अधिकांश महिलाएँ इसे ही अपनी सामाजिक भूमिका के रूप में स्वीकार कर लेती हैं। इसके अन्तर्गत महिला को अपना बच्चा सही तरीके से परवरिश करना और उनके लिए अपने सुख-दुख का ख्याल न रखते हुए हर तरह से त्याग करने को तैयार रहने को कहा जाता है। इन सबके बीच महिला की जिंदगी का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण क्षण वह होता है, जब वह बच्चे पैदा करने में असमर्थ होती है, या फिर परिवार में बेटे की चाह को पूरा नहीं कर पाती। इसके चलते उसकी जिन्दगी हिंसा, नफरत और अपमान की शिकार होने लगती है। भारतीय सामाजिक परम्परा में एक बाँझ औरत के लिए कोई जगह नहीं है। ऐसी महिलाओं के साथ देश के प्रायः हर हिस्से में अच्छा बर्ताव नहीं किया जाता। उन्हें मारा-पीटा जाता है, अपमानित किया जाता है और यहाँ तक कि पति की दूसरी शादी की धमकी भी दी जाती है। इसके अलावा अक्सर ऐसी स्थिति में महिलाओं को तलाक का भी सामना करना पड़ता है। गौरतलब है कि ऐसे समाज में बाँझपन के लिए सिर्फ महिलाओं को ही दोषी माना जाता है। इसके उपचार के लिए दाई को बुलाया जाता है, जो उसे कुछ जड़ी-बूटियाँ उपलब्ध कराती है। अगर इससे भी समस्या नहीं सुलझती तो पुरुष या महिला ओझा के जरिए उसका बंदोबस्त किया जाता है। यदि महिला के परिवारजनों का रवैया सहयोगात्मक हो तो वे उसे डॉक्टर के पास ले जाते हैं, जहाँ उसे हार्मोन की गोलियाँ, पौष्टिक आहार लेने की हिदायत के साथ पति के वीर्य की जाँच करने को कहा जाता है। हालांकि वीर्य की जाँच के लिए बहुत कम पुरुष ही तैयार होते हैं, क्योंकि उन्हें इस बात का डर होता है कि कहीं समाज उन्हें नपुंसक न समझ ले। यही कारण है कि वह महिला को ही बाँझपन के लिए दोषी बताता है। यह सभी परम्पराएँ समाज में महिलाओं को वश में करने के लिए लागू की जाती हैं। कर्नाटक के ग्रामीण समाज में यह मान्यता है कि यदि महिला को माहवारी के दौरान तेज दर्द होता है तो इसका सीधा मतलब यह है कि उसकी प्रजनन शक्ति कमजोर है और उस पर बुरी आत्माओं का साया है। इन मान्यताओं से साफ है कि इनकी वजह से महिलाओं पर अनावश्यक मानसिक दबाव पड़ता है। फिर भी समाज, जाति, वर्ग और संप्रदाय से नाता रखने वाले किसी बच्चे को गोद लेने की मान्यता कई वर्गों में है, लेकिन उसमें भी लड़के को ही प्राथमिकता दी जाती है, क्योंकि बेटे को ही वंश वृद्धि करने वाला माना जाता है।

भारतीय समाज में एक महिला का माँ के रूप में सबसे पहला कर्तव्य यही है कि वह अपने परिवार की संतान और खासतौर पर बेटे की अपेक्षा को पूरा करे। यही कारण है कि संतान के बारे में समाज की सभी मान्यताएँ भी महिला की प्रजनन शक्ति पर आकर टिक जाती हैं। ऐसी कई मान्यताएँ हैं, जिनका चिकित्सा विज्ञान में कोई पुख्ता आधार नहीं है, लेकिन ये कायम हैं, क्योंकि एक माँ के तौर पर स्त्री की भूमिका इन्हीं मान्यताओं पर आकर टिक जाती है। एक मान्यता के मुताबिक यदि गर्भाशय का मुँह औंधा हो तो महिला प्रजनन करने में अक्षम होती है। यदि महिला के शरीर की गर्मी ज्यादा हो तो भी वह प्रजनन नहीं कर सकती, क्योंकि इस गर्मी से पुरुष के वीर्य में मौजूद शुक्राणु मर जाते हैं।

मासिक धर्म और समाज का नियंत्रण

जैसे ही किसी लड़की को पहली बार मासिक धर्म होता है, तब परम्पराओं के नाम पर उसके साथ कई बंदिशें जोड़ दी जाती हैं। इसके पीछे नजरिया यह होता है कि मासिक स्त्राव से आसपास का वातावरण प्रदूषित होता है और इसी वजह से लड़की को हर माह मासिक धर्म के दिनों में घर के किसी कोने में अलग से रहना पड़ता है। यहाँ तक कि न तो वह घर के किसी सदस्य को छू सकती है और न ही नहाने के बाद अपने कपड़ों को बाहर खुले में सूखने के लिए डाल सकती है। शादी के बाद भी महिलाओं को उनके बच्चों को छूने नहीं दिया जाता। धार्मिक किताबों और मूर्तियों को भी छूने की इजाजत नहीं मिलती। ये प्रतिबंध लड़की के खान-पान में भी लागू होते हैं। यह सिलसिला हर माह कम से कम तीन दिन तक तो जरूर चलता है। स्त्री के मासिक धर्म के दौरान निकलने वाले रक्त स्त्राव को न केवल प्रदूषित माना जाता है, बल्कि उसे एक अपशकुन की तरह भी देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि मासिक धर्म के दौरान यदि पीड़ित स्त्री की परछाई किसी बच्चे पर पड़ जाए तो उसे चेचक हो सकता है, या फिर वह अंधा हो सकता है। आंध्रप्रदेश के ग्रामीण इलाकों में तो मासिक धर्म के रक्त से भीगे गंदे कपड़े को महिलाएँ या तो जमीन में गाड़ देती हैं या फिर उन्हें जला देती हैं। महिलाओं में मासिक धर्म को लेकर मुस्लिम और हिंदू धर्म की मान्यताओं में कोई ज्यादा फर्क नहीं है। लेकिन ये मान्यताएँ स्त्री पर सामाजिक नियंत्रण की कोशिश से जुड़ी हुई हैं, जिन्हें लागू करवाकर पुरुष प्रधान कुलीन समाज महिला को अपने वश में करना चाहता है।

चूंकि अधिकांश महिलाओं को मासिक धर्म के कारण का पता नहीं होता, इसलिए उनके लिए पहला मासिक धर्म शर्म, डर और निराशा पैदा करने वाला होता है। दक्षिण और उत्तर भारत के ज्यादातर इलाकों में मासिक धर्म की शुरूआत को स्त्री के लिए गर्भधारण की क्षमता से परिपूर्ण हो जाने का संकेत माना जाता है। आंध्रप्रदेश में तो मासिक धर्म के दौरान लड़की को लगातार 21 दिन घर के एक

कोने में लोहे के जंगले के भीतर रखा जाता है, ताकि किसी पुरुष सदस्य की निगाह उस पर न पड़े। जिस कमरे में वह रहती है वहाँ लगातार आग जलाकर रखी जाती है ताकि बुरी शक्तियों से उसकी पवित्रता अक्षुण्ण रहे। हालांकि आमतौर पर महिलाओं के साथ खान-पान के मामले में तो हमेशा भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है, लेकिन कुछ खास मौकों पर उनके लिए पौष्टिक और स्वादिष्ट भोजन भी पकाया जाता है। मासिक धर्म के दिनों में इस तरह का भोजन लड़की को खाने के लिए दिया जाता है और यह परम्परा तकरीबन हर जाति, समुदाय और वर्ग में कायम है। लड़की के खानपान में कुछ गर्म और ठंडे पदार्थों और वस्तुओं की मनाही होती है, क्योंकि यह माना जाता है कि इससे उसे मासिक धर्म के दौरान दर्द का अनुभव होगा। लड़की को पौष्टिक पदार्थ खाने में दिये जाने के पीछे मंशा यह होती है कि रक्तस्त्राव के कारण पैदा होने वाली कमजोरी उसे न महसूस हो और मासिक धर्म नियमित हो जाए, साथ ही प्रजनन अंगों का विकास भी हो।

औरत का डाकिन होना

सीधी जिले के सेंदुरा गाँव के प्रभावशाली लोगों ने बूटनदेवी नामक एक महिला को ऊपरी बाधा यानी डाकिन के रूप में प्रचारित किया। बूटनदेवी को गाँव के पंडा के पास ले जाया गया जहाँ भूत भगाने के नाम पर पूजा-पाठ करके उसके माथे पर कील ठोक दी गई। लोग कहते हैं कि यह पुलिस या कानून का नहीं, समाज का मामला है। समाज किस रूप में पितृ सत्तात्मक है इसका प्रमाण डाकिन या चुड़ैल जैसी व्यवस्थाओं से मिल जाता है। यह माना जाता है कि गर्भावस्था के दौरान जिन महिलाओं की मृत्यु हो जाती है या फिर बुरे कर्म करने वाली और बुरी नजर वाली महिलायें डाकिन या चुड़ैल बनती हैं। और जब ये किसी पर अपना नियंत्रण कसती हैं तो उसका जीवन बर्बाद होने लगता है। उल्लेखनीय है कि डाकिन या चुड़ैल केवल औरत ही होती हैं, पुरुषों में ऐसा कोई नहीं होता है जो किसी का जीवन बर्बाद कर सके। यहाँ पर केवल स्त्रीलिंग की अवधारणा मौजूद है, पुलिंग की नहीं।

दक्षिणी प्रदेशों में भानमति आना एक आम धटना है। किसी महिला पर भानमति आने के बारे में धारणा यह है कि उसके प्रभाव से वह दिमागी संतुलन खो देती है और अजीबोगरीब हरकतें करती है। लेकिन वास्तव में महिला के दिमाग पर पारिवारिक एवं अन्य कारणों से पड़ा अत्यधिक दबाव उसकी इस हालत के लिए जिम्मेवार होता है।

महिला पर डाकिन, भूत, भानमति या देवी का आना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि इस तरह की करतूतों से वह खुद पर पड़ने वाले दबाव और उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। महिलाएँ यह भी मानती हैं कि बीमारी से लड़ने की उसकी कुदरती क्षमता को कम करने के लिए उस पर मंत्रों, टोटकों और जादू

आदि उपायों से निशाना साधा जाता है। सीधी में एक नवविवाहिता पर देवी आने की घटना के बारे में जब छानबीन की गई तो पता चला कि उसके दिमाग पर घर-गृहस्थी के बोझ के साथ पारिवारिक तनाव भी हावी था, जिसके चलते वह ऐसी हरकतें करती थी। अगर पति-पत्नी दोनों एक ही आयु वर्ग के हों और पत्नी पति से ज्यादा समझदार हो तो वह यौन व्यवहार में असंतुष्ट रहती है। यदि पति कमाऊ हो तो उस पर जिम्मेदारियों का बोझ भी ज्यादा रहता है और यदि वह बेरोजगार हो तो हताशा में अपना गुस्सा पत्नी पर ही उतारता है। इन परिस्थितियों में महिला अपनी निराशा को देवी आने जैसी घटनाओं से व्यक्त करती है। महिलाओं का मानना है कि सफेद पानी आना, अत्यधिक माहवारी, कमजोरी, बाँझपन, सिरदर्द, पीठ का दर्द आदि उन्हीं महिलाओं को होते हैं, जिनकी पति के साथ नहीं बनती। लेकिन यदि ये समस्याएँ लंबे समय तक कायम रहें तो इसके पीछे बुरी नजर को ही मुख्य कारण माना जाता है। डाकिन, डायन आदि नाम से इस बुरी नजर को संबोधित किया जाता है। यह भी महिलाओं को उत्पीड़न का शिकार बनाने वाली एक सामाजिक धारणा है। धारणा है कि डाकिन एक अदृश्य शक्ति होती है, जो महिला के शरीर में समाकर दुख देती है, उसे बीमार कर देती है। वह शरीर को तभी छोड़ती है जब उसे खुश कर दिया जाए। सामाजिक व पारिवारिक कारणों से दबाव के चलते महिलाओं का व्यवहार डाकिन जैसा हो जाता है। इसी के साथ जो महिला सामाजिक वर्जनाओं को नहीं मानती, उसे भी डाकिन कह दिया जाता है। उत्तर भारत में चुड़ैल शब्द भी काफी प्रचलित है। ऐसी आम धारणा है कि यदि कोई महिला प्रसव के दौरान मर जाती है तो वह चुड़ैल बन जाती है। इसके अलावा जब भी कोई महिला परिवार की पितृसत्तात्मक व्यवस्था या कुल परम्पराओं को चुनौती देती है, उस पर चुड़ैल होने का आरोप लगा दिया जाता है। देश में प्रसव के दौरान जच्चा-बच्चा की मौत या महिला द्वारा मृत बच्चे को जन्म देने के पीछे भी इसी धारणा को जान-बूझकर बल दिया जाता है कि यह चुड़ैल की बुरी नजर के कारण हुआ है। ऐसे मामलों में चुड़ैल को खुश करने के लिए विभिन्न तंत्र-अनुष्ठान और यहाँ तक कि नृत्य भी आयोजित किए जाते हैं। हिंदू परम्पराओं में माना गया है कि चुड़ैलों के पैर उल्टे होते हैं और जिस किसी पुरुष ने उसके साथ सहवास कर लिया, वह नपुंसक हो जाता है। ऐसी ही धारणाएँ मुस्लिम समाज में भी कायम हैं।

आम तौर पर डाकिन के बारे में आम धारणा यही है कि एक बार किसी महिला के शरीर में आ जाने पर वह उसके दिमाग पर अपनी असर डालती है और इसी धारणा को देखते हुए झाड़फूँक करने वाले प्रभावित महिला को शांत करने वाली दवाएँ देते हैं। हालांकि डाकिन का आना और महिला की अजीबोगरीब हरकतें दिमागी तनाव और हताशा का ही परिणाम हैं, यह बात सभी मानते हैं, लेकिन उस तनाव को कम करने की कोशिश कोई नहीं करता। यही कारण है कि झाड़-फूँक के बाद भी महिला

उस तनाव के साए से बाहर नहीं आती, जिसे डाकिन कहा जाता है।

वैसे डाकिन या बुरी नजर के साए से महिला को बाहर निकालने के लिए कई तरह की प्रक्रियाएँ की जाती हैं। मिसाल के लिए दक्षिण भारत और उत्तरप्रदेश के कुछ इलाकों में अब भी लालमिर्च, सरसों, नमक और झाड़ की तीलियों को साथ बाँधकर 21 बार प्रभावित महिला के ऊपर घुमाया जाता है। इसके बाद इस सामग्री को महिला के बाएँ पैर के नीचे से निकालकर आग में डाल देते हैं। आग से यदि जलने की गंध न आए तों माना जाता है कि महिला पर बुरी नजर डाकिन का साया है। केरल में भी बुरी नजर की डाकिन का उतारा करने की प्रथा प्रचलित है, जिसमें मंत्र उपचारित हल्दी का उपयोग किया जाता है। इसके अलावा भविष्य में महिला पर किसी की बुरी नजर न पड़े इसके लिए खास तरह के ताबीज बाँधे जाते हैं। उपचार के लिए मंत्र फूँककर हाथ में धागा बाँधने का भी रिवाज है, तो कहीं अभिमंत्रित जल या तेल का उपयोग होता है।

डाकिन या बुरी नजर से बचने के लिए लोग पीर-फकीर, बाबा आदि की भी शरण लेते हैं तो कुछ लोग जात्र, नाहिन आदि साधन अपनाते हैं। तांत्रिकों की सहायता भी ली जाती है। हालांकि इन उपायों से महिला को थोड़ी राहत तो मिलती ही है, फिर भी उन कारणों को दूर करने में उसे सफलता नहीं मिलती, जिसके चलते वह मानसिक अशांति के दौर से गुजर रही है। पति की बेरूखी, अकेलापन, काम का बोझ, बीमारी, अवसाद और उपचार के साधनों के अभाव से उसे जो घुटन होती है, वह कुछ समय बाद फिर से बाहर आती है। असल में डाकिन ही वह शब्द है जो अत्याचार व शोषण के खिलाफ महिला की आवाज बनकर बाहर आता है। यह महिला की आत्मशक्ति होती है, लेकिन जो भी महिला अपनी इस अंदरूनी ताकत को दिखाने की कोशिश करती है, समाज उसे बुरी नजर या डाकिन का नाम देकर दबाने का प्रयास करता है।

या फिर दैवीय रूप में महिलाएँ

ग्रामीण इलाकों में आमतौर पर ऐसी देवियाँ प्रचलित हैं, जो गुस्से में होने पर कथित रूप से बाढ़, सूखा, अकाल, छोटी माता या बड़ी माता जैसी आफत ला सकती हैं और खुश होने पर सुख-संपत्ति एवं संतोष देती हैं। इस धारणा को बनाए रखने और देवी को खुश करने के लिए लोग उसकी पूजा-अर्चना व अनुष्ठान करते हैं। यह बात अब स्थानीय लोक स्वास्थ्य परंपराओं में शामिल कर ली गई है।

दरअसल धर्म और अध्यात्म से जुड़े ये अनुष्ठान महिला की जिंदगी को किसी न किसी रूप से प्रभावित करते हैं। एक स्तर पर तो यह परिवार की पितृसत्तात्मकता और जाति एवं वर्ग के भेद को बनाए रखने में मददगार हैं तो दूसरी ओर महिला को समाज के इन सभी बंधनों से आजाद होकर धार्मिक जीवन जीने को प्रेरित करते

हैं। ऐसी स्थिति में महिलाएँ सामाजिक दबाव से मुक्त होने की कोशिश में कृष्ण या शिव आदि देवताओं को पति मानकर एक धार्मिक आवरण ओढ़ लेती हैं, या फिर उनके प्रति समर्पण दिखाते हुए धर्म मार्ग को अपनाकर देवी बन जाती हैं। ऐसी कई महिलाएँ हैं, जो जातिगत एवं पारिवारिक बंधनों से निजात पाने के लिए धर्म का चोला पहन लेती हैं और फिर समाज उन्हें देवी मानकर उनका सम्मान करता है।

बहरहाल महिलाएँ अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए तरीके निकाल ही लेती हैं, चाहे वह देवी के रूप में हो या चुड़ैल, डाकिन या किसी अन्य रूप में। इस मामले में विश्लेषण से यह साबित होता है कि महिला के ऊपर कुल परम्पराओं, मर्यादा, पतिव्रता, सतीत्व जैसे बंधनों का काफी दबाव होता है, साथ में पारिवारिक व सामाजिक जिम्मेदारियों के निर्वाह से उसे इतना वक्त ही नहीं मिलता कि वह अपनी इच्छाओं का भी ध्यान रख सके। इससे उपजने वाली हताशा के चलते उत्पन्न मानसिक विकृतियों को जब समाज दबाने की कोशिश करता है तो धर्म की शरण लेने के सिवा उसके पास दूसरा कोई चारा भी नहीं बचता। यही भारतीय नारी की हकीकत है। दाई को सरकारी स्वास्थ्य सेवा का सबसे निराला अंग माना जा सकता है। दाई ही वह पहली शख्स है जो बच्चे को इस दुनिया में लाती है, लेकिन प्रसव के इस कार्य में दाइयों को भी एक देवी के संरक्षण की जरूरत पड़ती है, जिसके बारे में माना जाता है कि जिंदगी और मौत उसी के हाथ में होती है। महिला की प्रजनन एवं प्रसव क्षमताओं और दाई की मौजूदगी को पितृ सत्तात्मक उच्च कुल परम्पराओं ने यह कहते हुए दरकिनार करने की कोशिश की है कि प्रसव के दौरान रक्तस्त्राव, महिला के स्तनों से निकलने वाला द्रव सभी प्रदूषणकारी होता है। यहाँ प्रदूषणकारी शब्द महिला को कमजोर करने का एक प्रयास है, जिसे महिला के प्रजनन एवं यौन व्यवहार से पुरुषों को दूर रखने की एक तरकीब भी माना जा सकता है।

●●

माँ और मृत्यु के संबंध

आज भी इस विषय पर विवाद की स्थिति है कि आखिर मातृ मृत्यु को किन बिन्दुओं के आधार पर मापा और पहचाना जाये। अभी तक तो तकनीकी रूप से विशेषज्ञ इसकी परिभाषायें देते आये हैं किन्तु अब यह वक्त की जरूरत है कि मातृ मृत्यु को सामाजिक और राजनैतिक नजरिये से देखने की कोशिश की जाये। पारम्परिक रूप से गर्भावस्था के दौरान या फिर प्रसव के बाद के समय में होने वाली जटिलताओं को दो वर्गों – प्रत्यक्ष कारण और अप्रत्यक्ष कारणों में बाँटा गया था। उस दौर में गर्भावस्था और प्रसव के बाद की स्थिति से जुड़े बहुत से अप्रत्यक्ष कारणों को इस परिभाषा में शामिल नहीं किया गया था। इसके बाद विश्व स्वास्थ्य संगठन ने रोग, विकलांगता एवं मृत्यु के कारणों के अन्तर्राष्ट्रीय वर्गीकरण के नौवें संशोधन में यह स्पष्ट किया कि गर्भावस्था की अवधि और प्रसव के बाद 42 दिनों तक यदि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारण से महिला की मृत्यु होती है तो उसे मातृ मृत्यु माना जायेगा। इसके बाद भी परिभाषा पर बहस जारी रही और वर्गीकरण के दसवें संशोधन में नया वर्गीकरण स्वीकार किया गया। इसमें दो वर्ग स्पष्ट किये गये। पहले वर्ग में गर्भावस्था की अवधि और प्रसव के 42 दिन बाद से लेकर एक वर्ष की अवधि में हुई मृत्यु को शामिल किया गया। इसी संशोधन में स्पष्ट किया गया कि पहले वर्ग यानी प्रसव के बाद के 42 दिन की अवधि में यदि किसी महिला की किसी भी कारण से मृत्यु हो जाती है तो उसे मातृ मृत्यु माना जायेगा।

●●

देरी की कीमत एक जिंदगी

हर गर्भवती महिला का जीवन मातृत्व मृत्यु के साये में रहता है।
और जब हम इसके कारणों पर नजर डालते हैं तो पता चलता है कि
तीन तरह की देरी या विलम्ब एक औरत को मृत्यु की कगार तक ले जाते हैं

पहली देरी निर्णय लेने की – यह एक अहम् बात है कि गर्भवती महिला के आसपास समाज और परिवार का गहरा जाल बुना होता है। वह तरह-तरह के मूल्यों और अपेक्षाओं का दबाव झेलती है। ऐसी स्थिति में वह जब तक सहज होती है तब तक अपनी पीड़ा को सहती है परन्तु जब उसकी पीड़ा असहनीय हो जाती है तब भी उसे यह अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता नहीं है। कुछ भी हो निर्णय तो परिवार ही लेता है और परिवार के सामने सामाजिक व्यवहार हमेशा महत्वपूर्ण होते हैं। वे नहीं जानते हैं कि प्रसव की पीड़ा की अवधि 12 घंटे से ज्यादा होने का मतलब है जीवन पर संकट; फिर गरीबी और सहयोग का अभाव भी यह निर्णय लेने में देरी करवाता है कि गर्भवती महिला को सुरक्षित प्रसव के लिये स्वास्थ्य केन्द्र तक पहुँचाया जाये।

दूसरी देरी स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँचने की – जब परिवार यह तय करता है कि महिला को स्वास्थ्य केन्द्र तक लेकर जाना ही है तब उसके भाग्य में दूसरी देरी होती है। जब तैयारी हो रही होती है तो सामने खड़ा होता है परिवहन और सड़क का सवाल। मध्यप्रदेश के 55 से 70 फीसदी गाँव अब भी सड़कों के सम्पर्क में नहीं हैं और स्वास्थ्य केन्द्र की औसतन दूरी 25 किलोमीटर है। ऊबड़-खाबड़ रास्तों से गुजरने के कारण गर्भवती महिलाओं की स्थिति दर्दनाक हो जाती है। गरीबी की स्थिति में उनके सामने परिवहन के साधनों की बड़ी समस्या रहती है।

तीसरी देरी गुणवत्तापूर्ण स्वास्थ्य सुविधायें मिलने में – तमाम कठिनाइयों से जूझते हुए गर्भवती महिला अस्पताल पहुँच भी जाती है तो उसे वहाँ पहुँचकर सबसे ज्यादा कड़वी सच्चाइयों का सामना करना पड़ता है। जब सुमता बाई अस्पताल पहुँची तब उससे स्वास्थ्य कर्मचारियों ने दुर्व्यवहार किया, इस गरीब परिवार से रिश्वत की माँग

की गई। वहाँ डॉक्टर और दवायें भी मौजूद नहीं थीं। अस्वच्छता तो मानो सरकारी अस्पतालों की पहचान बन गई है। यहाँ पर कुछ और न सही पर संवेदनशील व्यवहार की तो अपेक्षा रहती ही है।

संकेत जोखिम के :

- यदि दो बच्चों के जन्म के बीच दो वर्ष से कम समय का अंतर है तो निगरानी गहरी होनी चाहिए।
- अठारह वर्ष से कम और पैंतीस वर्ष से ज्यादा की उम्र में प्रसव होना।
- यदि पहले से ही चार बच्चे हैं।
- यदि महिला का वजन 38 किलो से कम है।
- यदि पूर्व में प्रसव के समय कठिनाई हुई हो।
- यदि पहले समय से पूर्व प्रसव हुआ हो और बच्चे का वजन दो किलो से कम रहा हो।

निशान खतरे के :

- यदि गर्भावस्था के दौरान वजन न बढ़ा हो। कम से कम 6 किलो वजन बढ़ना चाहिये।
- यदि खून की कमी है या आँखों में पीलापन है।
- यदि पैर, बाँह या चेहरे पर सूजन है।
- यदि भ्रूण का हिलना-डुलना महसूस न हो रहा हो।

तत्काल कार्रवाई की स्थिति :

- यदि गर्भावस्था के दौरान या प्रसव के बाद लगातार योनि मार्ग से रक्तस्राव हो रहा हो।
- सिर या पेट में तेज दर्द हो रहा हो।
- उच्च या निम्न रक्तचाप हो।
- लगातार उल्टियाँ हो रही हों।
- तेज बुखार हो।
- यदि प्रसव से पहले पानी का स्राव हो।
- यदि प्रसव पीड़ा 12 घंटे या उससे ज्यादा हो।

●●

महिला हिंसा की राजनीति

हमारे सभी सामाजिक संबंध सत्ता की चाहत की देन हैं। सत्ता यानी ताकत, सत्ता यानी मैं और मेरा। जब से इंसान में सामाजिकता आई है तभी से सम्बन्धों में भी सत्ता का भाव आया है। जब से यह स्पष्ट हुआ है कि स्त्री और पुरुष में कुछ जैविकीय अंतर है तभी से भेद का विचार पनपा है। सिमोन द बोउवार ने अपनी पुस्तक 'द सेकेण्ड सेक्स' में लिखा है कि प्रागैतिहासिक यायावर मानव समाज में शारीरिक कमजोरी के बावजूद औरत पुरुष की इतनी अधीनस्थ नहीं थी कि वह एक गुलाम कहलाये। उन दिनों पुरुष के सम्मुख स्त्री को समर्पण के लिये विवश करने वाली न कोई संस्थागत, न व्यक्तिगत सम्पत्ति की अवधारणा थी और न ही कोई न्याय व्यवस्था ही थी। धर्म अकर्मक था, पूजा एक सेक्सुअल टोटम। खानाबदोश मानव के कृषि जीवन में प्रवेश के साथ संस्था और कानून बने। पुरुष केवल प्राकृतिक ताकतों से ही संघर्षरत नहीं रहा, बल्कि प्रकृति के सहयोग से वह जगत् का निर्माण भी करने लगा। उसने सोचना शुरू किया अपने जीवन के बारे में। इस बिन्दु पर यौन भेद उभरकर सामने आने लगे। इन सबों ने एक विशेष आकार ग्रहण किया। कृषि समुदाय में औरत को असाधारण मान्यता मिली। इसका कारण थी उसकी प्रजनन क्षमता। खेती के लिये मानव श्रम की आवश्यकता थी। अतः संतान का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया। एक खास प्रदेश या भूखण्ड पर जब आदिमानव स्थायी रूप से रहने लगा, तब पुरुष में स्वामित्व की भावना उपजी, सम्पत्ति का एकत्रीकरण शुरू हुआ। सम्पत्ति के रखवाले को जरूरत पड़ी वंशज की, जो विरासत में इसे पा सके; अतः मातृत्व एक पवित्र कार्य बना।

शुरूआत में वास्तव में प्रजनन और मातृत्व को एक दैवीय प्रक्रिया के रूप में देखा गया। आदि-समाज यह नहीं जानता था कि वास्तव में प्रजनन एक सम्पन्न की जाने वाली मानवीय क्रिया है जो औरत और पुरुष की अपनी विशेषताओं से मूर्त रूप लेती है। बहरहाल यह भी एक दर्ज करने वाला बिन्दु है कि मातृत्व के लिये पुरुष अपने एक अंश का त्याग करता है और औरत उसे ग्रहण करके जीवन

का रूप देती है। जैसे-जैसे यह स्पष्ट होने लगा कि प्रजनन एक मानवीय क्रिया है वैसे-वैसे पुरुष ने जाना कि इस मानवीय क्रिया में यौनिकता यानी संभोग की अहम् भूमिका है। वह प्रजनन को महत्वपूर्ण मानता था क्योंकि इससे उसकी सम्पत्ति को एक वारिस मिलता है। अतः अब यह जरूरी हो गया कि वह औरत की नैतिकता, यौनिकता और जीवन को अपने नियंत्रण में ले ले। यहाँ से समता और साझेदारी समाप्त हो जाती है और स्त्री अब पुरुष की वस्तु हो गई। संतान को पिता का नाम मिलने लगा और पुरुष ही सम्पत्ति का स्वाभाविक वारिस माना जाने लगा। चूंकि औरत को आज भी एक जरिया माना जाता है संतान की उत्पत्ति का इसलिये उसकी अपनी एक इंसान की पहचान भी खत्म करने की कोशिश की गई।

यह स्थापित कर दिया गया कि वह शारीरिक रूप से कमजोर होती है इसलिये उसे सुरक्षा और संरक्षण चाहिये, वह संवेदनशील है इसलिये जिम्मेदारियाँ नहीं निभा सकती है, वह यौनिक रूप से सक्रिय है इसलिये नैतिकता को बचाने के लिये उस पर नियंत्रण जरूरी है। कई बार इन झूठी संज्ञाओं को तोड़ने की कोशिश हुई परन्तु पितृसत्तात्मक समाज ने उसकी क्षमताओं को सीमित करने के लिये औरत के कानूनी अधिकार कमजोर किये, उसके चरित्र पर चंचलता और छिछोरेपन के आरोप लगाये गये, आर्थिक रूप से उसे परतंत्र बना दिया गया। यह दोयम दर्जे का व्यवहार इतना व्यक्तिगत हो गया कि समाज ने उसके खान-पान, रहन-सहन, पहनावे तक के लिये कठोर मापदण्ड तय कर दिये। अब वह परिवार में तभी कुछ खाती है जब सबके खाने के बाद कुछ बचा हो, उसे धीरे हँसना और बोलना होता है। उससे अपनी यौन इच्छायें तो दूर अपनी बीमारी और दर्द को अभिव्यक्त करने का अधिकार भी छीन लिया गया। अब पुरुष आता है, हल चलाता है और फसल काटता है। उसे यह मतलब नहीं है कि नौ माह तक गर्भ में एक बच्चे को पालने का मतलब क्या होता है? वह तो गर्भवती महिला पर भी अपनी सत्ता चलाता है उसे भूखा रखकर।

आमतौर पर मान्यता यह है कि आदिवासी समाज आधुनिक विकास और भौतिक प्रगति की चकाचौंध से दूर जरूर है किन्तु उनके अपने समाज में अद्भुत लैंगिक समानता और सशक्त महिलाओं की स्वीकार्यता को आदर्श ही माना जा सकता है। उनके बीच स्त्री-पुरुष का भेदभाव पितृसत्तात्मक समाज का अहसास नहीं होने देता है बल्कि परस्पर सम्मान और समान अधिकारों की बात को व्यवहार में भी लाये जाने जैसी स्थिति है परन्तु एक ओर तो पिछड़ी, सबसे उपेक्षित और गरीब, पूरी तरह से जंगल पर आधारित व्यवस्था पर निर्भर रहने वाली सहरिया आदिम जनजाति में महिलाओं की स्थिति दोयम दर्जे से भी बदतर स्थिति में है। वहीं दूसरी ओर अपने सामुदायिक दायरे से बाहर निकलने के बाद भी उनका कदम-कदम पर शोषण होता है।

यह एक विडम्बना है कि व्यापक स्तर पर सहरिया समुदाय वर्तमान भारतीय समाज में सबसे संकट के दौर से गुजर रहा है। पिछले वर्षों में जिस समुदाय ने अलग-अलग क्षेत्रों में लोगों को भूख से मरते देखा हो उसकी स्थिति की कल्पना करना असंभव नहीं है। पारम्परिक जीवनयापन व्यवस्था के टूट जाने के कारण उनके पास दो जून की रोटी के इंतजाम के लिए भी बहुत खुले विकल्प नहीं हैं, देश-दुनिया में सहरियाओं के बच्चे सबसे ज्यादा कुपोषित और बुनियादी अधिकारों से दूर हैं। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ऊँची जातियाँ और साधन सम्पन्न लोग उनका चरम स्तर तक शोषण करते हैं। इतना सब होने के बावजूद इस समुदाय की व्यवस्था महिलाओं के प्रति शोषणकारी और एक हद तक गैर-मानवीय है।

जंगलों से मिलने वाले खाद्योपयोगी उत्पादों की उपलब्धता समाप्तप्रायः हो जाने के बाद इन्हें मजदूरी और कर्ज पर निर्भर हो जाना पड़ा। हमेशा अपने घर और गाँव के करीब रहने वाले सहरिया को पलायन करके दूरस्थ इलाकों में जाकर रोजगार ढूँढने की पहल करना पड़ी। चूंकि इनके पास विकल्पों का अभाव होता है इसलिये रोजगार देने वाले उच्च वर्ग के लोगों की शर्तों पर इन्हें मजदूरी करनी पड़ती है और शर्तों में शोषण सहने की मजबूरी भी शामिल है।

सहरियाओं में लड़की के विवाह की औसत उम्र 14 से 15 वर्ष है। अन्य आदिवासी समुदायों की तरह इस समुदाय में लड़की को अपने विवाह के सम्बन्ध में किसी भी तरह का निर्णय लेने की स्वतंत्रता नहीं होती है। स्वतंत्रता बहुत ही रणनीतिक होती है। विवाह के लिये वर और परिवार का चयन परिवार और सगे-सम्बन्धियों के बुजुर्गजन करते हैं। ऐसे भी उदाहरण यदा-कदा सामने आते रहे हैं जिनसे पता चलता है कि अपनी मर्जी से शादी कर लेने या अपनी इच्छा प्रकट करने पर लड़की को अर्थ या शारीरिक दण्ड दिये जाने के जाति पंचायत के कानून भी बने हुए हैं।

सहरिया औरत अलग-अलग और कभी-कभी निर्जीव भूमिका में नजर आती है। विवाह के ठीक अगले क्षण से महिला को अपने ससुराल के गाँव में (जहाँ उसे जिन्दगी बितानी है) पैरों में चप्पल पहनने का अधिकार नहीं रह जाता है। अध्ययनों से पता चलता है कि कई दशकों पहले मान्यता यह थी कि सहराने के जिस चबूतरे पर पंच बैठते हैं उसके सामने से सम्मान स्वरूप बिना चप्पल के गुजरना चाहिए। परन्तु समय बीतते-बीतते यह परम्परा रूढ़ि का रूप लेने लगी। और यह केवल महिलाओं की बाध्यता हो गई और चप्पल न पहनने का दायरा पूरा गाँव हो गया। सहरिया पुरुषों से सघन बातचीत करने पर पता चलता है कि सहरिया समुदाय को ठाकुरों के शोषण का लगातार सामना करना पड़ता है। किसी भी ठाकुर की गढ़ी के सामने से पुरुष चप्पल पहनकर और साईकल पर बैठकर नहीं गुजर सकता है और उसे सिर झुकाकर वहाँ से निकलना होगा। वे

कहते हैं कि हमें ऊँची जातिवाले दबाते हैं पर हम तो किसी का शोषण नहीं कर सकते इसलिये वे महिलाओं को सामुदायिक रूढ़ियों के जरिये दोयम दर्जे का बनाने की पहल करते हैं।

विपन्नता और गरीबी के संकट से निपटने के लिये महिलायें जंगल से जलाने के लिये लकड़ियों के गट्ठर लेकर आती हैं। 30 से 40 किलो का गट्ठर बेचने के लिये उन्हें 15 किलोमीटर दूर तक चलना पड़ता है। जिसके एवज में उन्हें अधिकतम 20 रुपये मिलते हैं। इस शारीरिक श्रम का दायित्व भी औंरतों का ही है। पुरुष बड़े ही उदासीन अंदाज में उनकी उपेक्षा करते हैं। ऐसे में उन्हें अक्सर बीड़ी पीते, ताश खेलते या पेड़ की ठण्डी छांव में आराम करते देखा जा सकता है। मजदूरी के मामले में भी अब महिलायें समान रूप से शारीरिक श्रम कर रही हैं किन्तु फिर भी उन्हें आर्थिक संदर्भों में निर्णय लेने का अधिकार नहीं है।

इस समुदाय के विवादों या किसी भी मामले में मुद्दा निर्णय के लिये जाति पंचायत में जाता है। जिसमें मुखिया निर्णय लेने में मुख्य भूमिका निभाता है और निर्णय लेने से पहले वह पुरुषों, खासकर बुजुर्गों से चर्चा करता है। मामला कोई भी हो जाति पंचायत में महिलाओं की मौजूदगी नहीं होती है न ही उन्हें अपने ही प्रकरण में मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। वे सिर्फ आदेश का पालन करने के लिए हैं।

फिर स्वास्थ्य एक ऐसा अधिकार है जो उन्हें उपलब्ध नहीं है। सहरियाओं को आदिम और पिछड़ी जनजाति माने जाने का एक अहम् कारण यह है कि इस समुदाय की जनसंख्या में औसत वृद्धि दर्ज नहीं की जा रही है यानी उनका अस्तित्व धीरे-धीरे खत्म हो रहा है। वहीं दूसरी ओर जमीनी वास्तविकता यह है कि हर परिवार में औसतन 5 से 7 बच्चे जन्म लेते हैं। क्या इससे बड़ा विरोधाभास कुछ और हो सकता है? परन्तु ये दोनों तथ्य वास्तविक और सही हैं क्योंकि बच्चे जन्म तो लेते हैं किन्तु जिन्दा दो या तीन ही रह पाते हैं। शिशु मृत्यु दर ज्यादा होने के ही कारण इस समुदाय में जन्म दर भी ज्यादा है। इस स्थिति का सीधा और नकारात्मक प्रभाव महिलाओं के स्वास्थ्य पर पड़ता है। गर्भावस्था और प्रसव के उपरान्त उन्हें शरीर की जरूरत का पोषण आहार कभी नहीं मिलता है। इतना ही नहीं प्रसव की वेदना उनके लिये जीवन और मृत्यु का सवाल बन जाती है। आमतौर पर बच्चों का जन्म घर पर ही पूर्णतः अस्वच्छ वातावरण में होता है। जन्म की प्रक्रिया पूरी कराने के लिये कोई चिकित्सक या प्रशिक्षित दाई की सुविधा इन गाँवों में बिल्कुल नहीं मिलती है और फिर दर्दनाक सच्चाई यह है कि बसोड़ जाति की महिला ही दाई का काम करती है जिसके पास एक समय में 6 से 10 गाँवों का दायित्व होता है और वह जरूरत के समय लोगों तक नहीं पहुँच पाती है। फिर भी सहरियाओं में नवजात शिशु की नाल काटने का काम दाई के अलावा कोई

और नहीं कर सकता है। अब दाई का इंतजार किया जाता है। वे जब आती हैं तभी नाल काट कर बच्चे को माँ से अलग किया जाता है। दाई का यह इंतजार दो-तीन दिन तक भी चलता है और तब तक नाल नहीं काटी जाती है। ऐसे में शिशु एवं मातृ मृत्युदर के कई प्रकरण आते हैं।

यह तर्क बेमानी है कि गरीबी के कारण अनाज न होने से औरत भूखी रहती है। यदि ऐसा होता तो 90 प्रतिशत महिलाएँ खून की कमी की शिकार नहीं होतीं। वास्तविकता यह है कि वर्ग कोई सा भी हो, उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग या निम्न वर्ग; सभी वर्गों की औरतों को उनकी जरूरत के अनुरूप पोषणयुक्त पर्याप्त मात्रा में भोजन नहीं मिलता है। मध्यप्रदेश का मानव विकास प्रतिवेदन, राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के हवाले से बताता है कि प्रदेश में 20.3 फीसदी महिलायें ही हर रोज दूध या दही पाती हैं जबकि 43 फीसदी को ही दाल मिलती है। इस स्थिति में जब हम फलों पर पहुँचते हैं तो पता चलता है कि केवल 5 फीसदी महिलाओं को फल खाने को मिलते हैं। 0.9 प्रतिशत को अण्डे और आधा फीसदी औरतों को मांसाहार करने का मौका मिलता है। यह आंकड़े केवल अर्थव्यवस्था की कोख से पैदा नहीं हुए हैं बल्कि सच यह है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था औरत को शरीर और मन से इतना कमजोर बना देना चाहती है कि वह राजनैतिक सत्ता के लिये संघर्ष न कर सके और पुरुष का यौनिकता पर नियंत्रण बना रहे।

भरपेट रोटी का मुद्दा वैसे तो गरीबी और अमीरी के बीच में बाँट दिया गया है, परन्तु यह एक सतही सिद्धान्त है कि आर्थिक संकट ही सतत् भुखमरी का कारण है। किसी भी परिस्थिति में यह नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है कि हमारा समाज अमीर-गरीब वर्गों में तो केवल एक निहित उद्देश्य के तहत बँटा हुआ है। यथार्थ यह है कि यह समाज औरत और पुरुष के बीच में बँटा हुआ है और यह विभाजन पितृसत्तात्मक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भों में एक अमानवीय व्यवस्था को स्थापित करता है। अगर भूख और गरीबी एक आर्थिक मुद्दा है तो सवाल यह है कि खेती के पूरे काम का तीन-चौथाई हिस्सा अकेले पूरा करने वाली औरत ही अब शारीरिक रूप से सबसे कमजोर क्यों है? क्यों 70 फीसदी महिलायें खून की कमी और कुपोषण की शिकार हैं?

वास्तव में अपने पुरुषत्व के दंभ को सिद्ध करने के लिये शोषण समाज के व्यावहारिक चरित्र का एक हिस्सा बन गया। वह जानता है कि जीवन के कई दौर में उसे अपनी हिंसा को चरितार्थ करने और यौनिकता को अपने पक्ष में करने के लिए किसी स्थायी शिकार की जरूरत है जिस पर उसका सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक नियंत्रण हो। जिसे प्रेम करने से लेकर, उसकी कोख पर नियंत्रण रखने, उसके सोने, जागने, पहनावे से लेकर उसके जीवन की अंतिम क्रिया तक पर पुरुष का ही सामाजिक और कानूनी हक हो और इस व्यवस्था को एक

पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था का रूप दे दिया गया।

पुस्तक 'भला ये जेंडर क्या है?' में कमला भसीन ने कलाडिया वॉन वर्लहॉफ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऐतिहासिक रूप से, किसी सामाजिक व्यवस्था ने, लिंगों के बीच के प्राकृतिक अंतर को इस बर्बरता और सोचे-समझे ढंग से नहीं बढ़ाया और तोड़ा-मरोड़ा है जैसा कि हमारी सामाजिक व्यवस्था ने। इस व्यवस्था ने पहले प्राकृतिक लिंग को बनावटी और सामाजिक लिंग में बदला, मर्दों को 'मर्द' बनाया और औरत को 'औरत'। सच तो यह है कि 'मर्द' मानव जाति ही बन गये तथा औरतें सिर्फ एक लिंग रह गईं। अंत में इन फर्कों को पैदा करने के बाद उन्हें प्राकृतिक पोषित रूप दिया गया ताकि उनका आर्थिक शोषण भी किया जा सके।

इसी पुस्तक में मारिया मीस का भी उल्लेख है; जो कहती हैं कि यौन शोषण, मुख्यतः बलात्कार के रूप में शासक वर्ग द्वारा शोषित वर्ग को सबक सिखाने तथा अनुशासन में रखने का जरिया है। विद्रोही गरीब किसानों और भूमिहीन मजदूरों को सजा देने के लिये जमींदार और पुलिस उनके साथ मार-पीट करने और झोंपड़े जला देने से संतुष्ट नहीं होते, अनेक मामलों में वे उनकी औरतों के साथ बलात्कार भी करते हैं। इन बलात्कारों के पीछे दमित यौन इच्छाओं का फूटना नहीं होता जैसा कि आमतौर पर माना जाता है। सच तो यह है कि इस तरह की हरकतों के पीछे यौनिकता होती ही नहीं है और न ही औरतों से दुश्मनी। बल्कि यह गरीब वर्ग के मर्दों को सजा देने का ढंग है। अपनी सत्ता और प्रभुता को स्थापित करने का तरीका है। चूंकि औरतों को गरीब मर्दों की सम्पत्ति के रूप में देखा जाता है, उनका बलात्कार करके गरीब मर्दों को सबक सिखाया जाता है कि उनकी स्थिति पूरी तरह लाचारगी और सम्पत्तिहीनता की है। 'जो जमीन का मालिक होता है वही यहाँ की औरतों का मालिक होता है।'

बात अब भूमण्डलीकृत हो चुकी है। मसला केवल गरीब और अमीर के बीच का नहीं है, अहम् मसला औरत और मर्द के बीच का है। बहुत ही सुनियोजित ढंग से यह स्थापित कर दिया गया है कि औरत समाज में उत्पादक की भूमिका नहीं निभाती है; वह तो घर में रहती है। उत्पादक तो पुरुष है जो घर के बाहर संघर्ष करता है, मेहनत करता है और तब घर में चूल्हा जलता है। बहुत ही व्यावसायिक चतुराई से समाज ने इस व्यवस्था को हमारे मन-मस्तिष्क में बैठा दिया है। हम यह विश्लेषण करने को तैयार नहीं होते हैं कि जिस बिखरे जीवन को औरत एक रूप देती है उसमें भी संघर्ष है, उसमें भी श्रम है, परन्तु उसमें औरत को अपने निर्णय लेने और चुनाव करने की स्वतंत्रता नहीं है।

वह कौशल सम्पन्न है पर वह घर की देहरी नहीं लाँघ सकती क्योंकि इससे परिवार के सम्मान को ठेस लगेगी। परिवार के सम्मान का सिद्धान्त बहुत ही

सोचा-समझा षड्यंत्र है। इस सम्मान को बचाने के लिये उसे घूँघट में रहना होगा। घूँघट की परम्परा को निभाने के लिये उसे चहारदीवारी में रहना होगा। चहारदीवारी में रहकर उन्हीं दायित्वों का निर्वहन करना होगा; जो दायित्व पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने उसके लिये तय किये हैं। यह समाज जानता है कि उसे अवसर मिलते ही यह जोड़-घटाना भी होगा कि असलियत में उत्पादक की भूमिका निभाता कौन है? और तब पता चल जायेगा कि औरत की मौद्रिक उत्पादकता को समाज ने कर्तव्य, दायित्व, लाज, घरेलू काम, संवेदनशीलता, त्याग जैसे ही कई पदों के पीछे ढँक दिया है। वर्ष 1995 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो मानव विकास प्रतिवेदन जारी किया, उससे यह स्पष्ट होता है कि स्त्री श्रम के मायने क्या हैं? इस प्रतिवेदन ने महिलाओं के अदृश्य, अवचेतन और छिपे हुए काम का मौद्रिक मूल्यांकन कर बताया कि उसकी वार्षिक कीमत 110 खरब अमेरिकी डॉलर होती है। दूसरे मायने में पूरी अर्थव्यवस्था में वह आधे से भी अधिक का योगदान देती है।

अगर सरकारी व्यवस्था पर एक नजर डाली जाये तो उसका नजरिया समझने के लिये बहुत दूर नहीं जाना पड़ेगा। जब हम सरकार की नीति के अन्तर्गत सामाजिक सुरक्षा को परिभाषित करते हैं तो स्पष्ट होता है कि औरतों के लिये सामाजिक सुरक्षा के मायने उसके निराश्रित होने या विकलांग होने तक ही सीमित हैं जब उसे 150 रुपये प्रति माह की पेंशन मिलने लगती है। परन्तु सामाजिक नजरिये से यह पेंशन उन्हें और अधिक वंचित और उपेक्षित कर देती हैः क्योंकि इस पेंशन की पात्रता के साथ ही उनकी व्यापक समाज से जुड़ी हुई पहचान पूरी तरह से खत्म हो जाती है। तात्कालिक जरूरत को पूरा करने के उद्देश्य से शुरू हुई इस तरह की योजनायें अब सामाजिक जरूरत बन गई हैं और सरकार का दावा होता है कि वह भुखमरी रोकने के जतन कर रही है।

इसके साथ ही एक पक्ष यह भी है कि तेज विकास की प्रक्रिया में स्त्री के विकास और पुरुष के विकास की परिभाषा में भी लैंगिक भेद है। जब विकास की परिभाषा में कृषि, बागवानी, ट्रेक्टर या इसी तरह की ठोस जरूरतों के लिये योजनाओं की बात होती है तो पूरा 100 फीसदी हिस्सा पुरुषों के खाते में ही जाता है। औरतों को सूची में रखने का 'जोखिम' न सरकारी कर्मचारी उठाना चाहता है न ही ऋण देने वाले बैंक का प्रबंधक। वहीं दूसरी ओर बहुत दबाव के बाद जब सरकार को लगने लगा कि अब औरतें भी राजनीति के चेहरे को पहचानने लगी हैं तो शुरू हो गये सम्बर्धन कार्यक्रम। इन कार्यक्रमों का रूप भी 'स्त्रीयोचित' ही रखा गया। चूंकि बात औरतों की हो रही है इसलिये सहायता मिलेगी, अचार, बड़ी, पापड़ या सिलाई-कढ़ाई के काम के लिये। मध्यप्रदेश में महिलाओं ने ऐसे में 2700 लाख रुपये इकट्ठे किये हैं, परन्तु एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जहाँ पर उन्हें खेत का अधिकार या निर्माण कार्य का ठेका मिला हो।

काम का भेदभाव भी बहुत सोच समझ के साथ किया जाता है। जिस काम में गति है, भ्रमण है, रोचकता है, वह काम पुरुष करता है जबकि जो काम उबाऊ है, नीरस है और मेहनत वाला है वह औरतों के हिस्सों में आता है। खेती का ही उदाहरण लें। मर्द जब पानी ढोयेगा तो वह या तो ट्रेक्टर पर ढोयेगा या फिर बैलगाड़ी पर; पर जब महिला ढोयेगी तो सिर पर तीन मटके रखकर पैदल चल पड़ेगी। धान की बुआई और कटाई महिला करेगी क्योंकि घुटनों-वुटनों पानी में कमर झुकाकर यह काम करना होता है, पुरुष इसी फसल को ट्रेक्टर पर लादकर मण्डी या बाजार में बेचने चल देगा।

भोजन का पारम्परिक पक्ष – सामान्य रूप से सांस्कृतिक और सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्तों के आधार पर यही माना जाता है कि महिलायें उन्नति और जीवनयापन की प्रक्रिया में कोई उत्पादक भूमिका नहीं निभाती हैं। परन्तु वहीं दूसरी ओर इस तर्क का जवाब इन आंकड़ों से दिया जा सकता है कि खेतों में होने वाले कमरतोड़ काम का 75 फीसदी हिस्सा महिलाओं द्वारा किया जाता है। घरेलू कामों का जब उत्पादक के रूप में आर्थिक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यदि महिलायें मेहनतभरी भूमिका निभाना बंद कर दें तो पूरी सामाजिक व्यवस्था तहस-नहस हो जायेगी, न केवल आर्थिक रूप से बल्कि सामाजिक रूप से भी। इसके बावजूद हमारे समाज में महिलाओं की स्थिति के आधार पर यह साफ है कि उनके साथ खानपान के मामले में भेदभाव किया जाता है। परिवार की एक आदर्श महिला वही होती है, जो सभी को खिलाने के बाद सबसे अंत में भोजन ग्रहण करे। ऐसे परिवारों में जहाँ पहले ही खाने की कमी होती है, वहाँ लड़के को लड़कियों से पहले खाना परोसा जाता है। घर में जो भी प्रमुख कमाने वाला होता है, वही सबके लिए भोजन का बंटवारा करता है। लड़कियों को खानपान के मामले में हमेशा त्याग करने की सीख दी जाती है। जिन परिवारों में महिलायें कमाती हैं, वहाँ भी महिलाओं की कमाई पुरुष सदस्यों के ही हाथ में रखे जाने की परम्परा है। इसके अलावा घर में महिलाओं पर कामकाज का इस कदर दबाव होता है कि उन्हें भोजन करने के लिए भी पर्याप्त समय बमुश्किल से मिल पाता है। शोध के दौरान कई बार यह भी पाया गया कि महिलाएँ सप्ताह में कई दिनों तक उपवास करती हैं, लेकिन इन उपवासों का कारण धार्मिक पर्व या अनुष्ठान नहीं, बल्कि भोजन की कमी होती है। वैसे धार्मिक रूप से भी महिलाओं के खानपान में कई तरह के निषेध बताए गये हैं। मिसाल के लिए विधवा महिलाओं को गरिष्ठ भोजन या प्याज, लहसुन और मांसाहार ग्रहण करने के लिए मना किया गया है। इसके पीछे सोच यही है कि जब पति ही नहीं रहे तो वह इन तामसिक वस्तुओं को भोजन में ग्रहण कर क्या करेगी? उसे तो धार्मिक रूप से सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए। माना जाता है कि यदि महिलाएँ तामसिक भोजन ग्रहण करें तो उनमें

कामेच्छा जाग सकती है। आमतौर पर मासिक धर्म शुरू होने से पहले ही महिलाओं को अच्छा भोजन ग्रहण करने दिया जाता है, उसके बाद नहीं।

गर्भावस्था के दौरान कई समुदायों में महिलाओं को खान-पान में कमी करने की हिदायत दी जाती है, क्योंकि ऐसी धारणा है कि भरपेट भोजन करने से गर्भ में पल रहे भ्रूण को हिलने-डुलने की जगह नहीं मिल पायेगी। एक और कारण यह भी है कि भरपेट भोजन से शरीर में मोटापे की समस्या पैदा हो जायेगी। और इसके कारण वह घर और खेतों में काम नहीं कर सकेगी। इसके अलावा गर्भावस्था के सातवे महीने में महिला के लिए विभिन्न प्रकार के आयोजनों की प्रथा भी तकरीबन सभी प्रांतों में कायम है। इसके तहत गर्भवती महिला के लिए आटा, मैदा, घी और ग्वारफली के बीज मिलाकर खास तरह की मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। इस दौरान प्रसव के पूर्व तक महिला को यह सभी चीजें नियमित रूप से खानी पड़ती हैं। गर्भावस्था के समय महिला को दूध एवं इससे बनी वस्तुएँ, मूंगफली तथा कोई भी चिपचिपा या सफेद पदार्थ, जैसे केला आदि खाने की मनाही रहती है, क्योंकि दाइयों का मानना है कि इन चीजों से कोख में बच्चे के ऊपर एक परत आ जाएगी, जिससे प्रसव में देरी होगी। बाजरा और पपीते जैसी चीजें भी गर्म मानकर महिला को नहीं दी जातीं। गुजरात में दही जैसी चीजें भी गर्भवती महिला को खाने में नहीं दी जाती। आयुर्वेद में भी इन चीजों से परहेज की सलाह दी गई है।

त्यौहार और उत्सवों के दौरान भारतीय परिवारों में विशेष पकवान बनाए जाने की परम्परा है लेकिन कभी-कभी ये महिलाओं के लिए हानिकारक भी होते हैं। मिसाल के लिए गुजरात में जुलाई-अगस्त के सीजन में व्रत रखे जाने की परम्परा है, क्योंकि आयुर्वेद में इस दौरान व्रत रखे जाने की सलाह दी जाती है। लेकिन ऐसे समय, जबकि कृषि कार्य चरम पर हो, भूखे पेट दिन भर कड़ी मेहनत करना महिलाओं के लिए हानिकारक होता है।

यह कहना या सिद्ध करना बहुत जरूरी नहीं है कि किस तरह औरत न केवल प्रत्यक्ष बल्कि अदृश्य भूख का जीवन इस सामाजिक व्यवस्था में जीती है। बल्कि मकसद यह है कि हम उस व्यवस्था को जान सकें जिसमें किसी को भूखा रखना वास्तव में सत्ता पर नियंत्रण करने के लिये जरूरी माना जाता है। अर्थव्यवस्था कमजोर नहीं है कि खाना खरीदा न जा सके; न ही जमीन इतनी बंजर कि पैदा न किया जा सके। परन्तु सवाल सत्ता का है यदि भरपेट भोजन मिल जायेगा तो संभव है कि मन और मस्तिष्क स्वस्थ होकर अपनी सामाजिक स्थिति पर कुछ विचार करने लग जायेंगे। समानता की बात होगी, समता की बात होगी और क्षमता की बात होगी। निःसंदेह यह पुरुष वर्चस्ववादी समाज को मंजूर न होगा।

फिर भी हर दौर और कालखण्ड में कभी-कभी ऐसा लगता है मानों ठहरे हुए पानी में किसी ने पत्थर फेंका हो, जिससे कुछ हलचल होती है; व्यवस्था में बदलाव

की उम्मीद जागती है पर फिर वैसा ही चलने लगता है। समाज केवल बदलाव लाने वालों को दण्डित नहीं करता है बल्कि वह बदलाव चाहने वालों की भी खबर लेता है। अब केवल महिलाएँ ही दण्डित नहीं होती हैं बल्कि उनके साथ खड़े पुरुष भी सत्ता की इस व्यवस्था में दण्ड के अधिकारी बनने लगे हैं।

जननी,
तुम्हारे खामोश प्रश्न कर देते हैं मुझे मजबूर
उत्तर खोजने के लिये,
तुम्हे बनाकर अपना केन्द्र
आत्मविश्लेषण मैंने तो किया ही नहीं,
मन हो चाहे मस्तिष्क
विचार हो चाहे तथ्य
करीबी हो चाहे फासला
मैंने जीवन को एक प्रयोग से अधिक
कभी कुछ नहीं माना,
भावनाओं के आधार पर तना
राजनीति का मंच,
पर अब मेरे प्रयोग बन चुके हैं
मेरे सत्ता कर्म,
तुम्हारे गर्भ को बना कर अस्त्रगाह
जीवन के रण पर
हमने लड़ी है पुरुषत्व की जंग,
बाजार मे कहीं
खो गया है धर्म,
इसलिये मुझे अब करना होगा संघर्ष
तुम्हारे खामोश प्रश्नों के साथ,
तुम्हारी पीड़ा के लिए
ताकि जीवन को दी जा सके
एक स्वस्थ्य-जीवंत दिशा,
साथ-साथ
मुझे करना है अब निर्दोष
अपने अतीत को
अपने वर्तमान को।

●●●
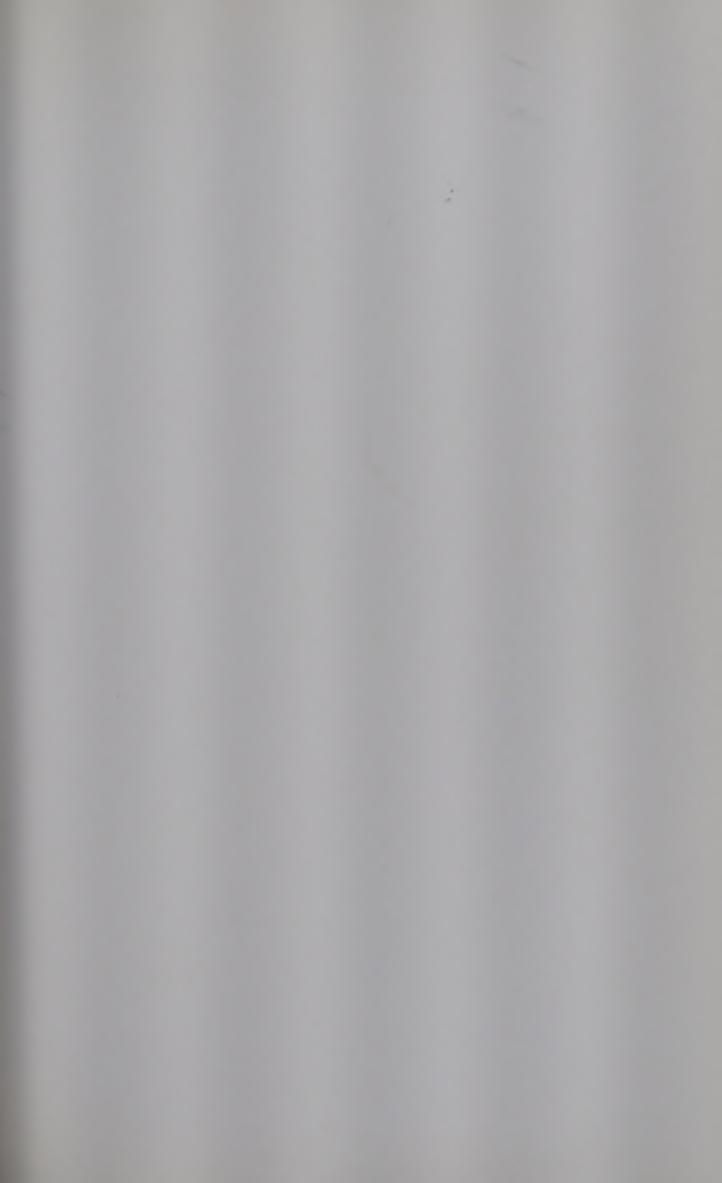
मध्यप्रदेश के एक समुदाय में गर्भवती महिला की मृत्यु के बाद गर्भस्थ शिशु के साथ उसका अंतिम संस्कार नहीं किया जाता है। पहले उसका पेट चीरकर गर्भ से बच्चे को बाहर निकालकर अलग रखा जाता है। फिर दोनों का अंतिम संस्कार अलग–अलग जगहों पर किया जाता है। मान्यता है कि अगर ऐसा नहीं किया गया तो उस पुरुष का वंश आगे नहीं बढ़ता जिसके स्पर्म से यह भ्रूण बना है।....

...इसी किताब से

सचिन कुमार जैन : समाजशास्त्र एवं पत्रकारिता–जनसंचार में स्नातकोत्तर उपाधि। कई वर्षों से विकास, जन मुद्दों एवं संचार के परस्पर सम्बन्धों पर काम कर रहे हैं और लगातार लिख भी रहे हैं। फिलहाल भोपाल में 'विकास संवाद' नामक प्रयास का समन्वय। भोजन का अधिकार अभियान के साथ कार्यरत।

ISBN 81-89164-36-8
9 788189 164362
Rs. 45